॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

श्री विष्णु गीता

श्री विष्णु गीता

श्री प्रभु के चरणकमलों में समर्पित:

श्री मनीष त्यागी
संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

॥ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

॥ श्री हरि ॥

विषय सूची

अथ प्रथमोऽध्याय : प्रथम अध्याय 4

वैराग्ययोगवर्णनम् 4

अथ द्वितीयोऽध्याय : द्वितीय अध्याय 31

सृष्टिसृष्टिधारकयोगवर्णनम् 31

अथ तृतियोऽध्याय : तृतीय अध्याय 61

गुणभावविज्ञानयोगवर्णनम् 61

अथ चतुर्थोऽध्याय : चतुर्थ अध्याय 102

कर्मयोगवर्णनम् 102

अथ पंचमोऽध्याय : पांचवां अध्याय 128

भक्तियोगवर्णनम् 128

अथ षष्ठोऽध्याय : छठा अध्याय 157

ज्ञानयोगवर्णनम् 157

अथ सप्तमोऽध्याय : सातवाँ अध्याय 193

विश्वरूपदर्शनयोगवर्णनम् 193

॥ श्री विष्णवे नमः॥

॥ श्री विष्णु गीता ॥

अथ प्रथमोऽध्याय : प्रथम अध्याय

वैराग्ययोगवर्णनम्

सूत उवाच ॥१॥

यदुक्तं भवता देव ! भगवान् विश्वपालकः।
अपूर्वचिन्मयज्योतीरूपः पूर्ण प्रकाशितः ॥ २ ॥

देवलोके हि देवानां भयं सत्यमनाशयत् ।
इच्छामस्तत्समाकर्ण्य वयमाप्तुं कृतार्थताम् ॥ ३॥

सूतजी बोले ॥१॥

हे देव ! आपने जो कहा कि विश्वपालक,अपूर्व चिन्मय ज्योति खरूप, पूर्ण प्रकाशमान श्रीभगवान् ने देवलोक में देवताओं को भय से मुक्त किया, यह सत्य है परन्तु हम उस वृतांत को सुनकर कृतार्थता को प्राप्त करना चाहते हैं। ॥२-३॥

मनोबुद्धिवचोऽतीतश्चिन्मयज्योतिरुज्ज्वलः।
परमः पुरुषः कोऽसावाविरासीत्कृपानिधिः ॥ ४ ॥

देवानामुपदेशैः कैः स निराकृतवान्भयम् ।
कृपया श्रावयित्वा तद्धन्यानस्मान् कुरु प्रभो ! ॥५॥

मन बुद्धि और वचन से अतीत, चिन्मय ज्योति, प्रकाशमान, कृपालु, परमपुरुष जो आविर्भूत हुए थे वे कौन थे और किन उपदेशों के द्वारा उन्होंने देवताओं के भय का निराकरण किया था, वह कृपया सुना कर हे प्रभो! हमलोगों को धन्य कीजिए ॥४-५॥

व्यास उवाच ॥ ६॥

श्री व्यासदेव बोले ॥ ६॥

द्वन्द्वात्मकोऽस्ति सर्गोऽयं दिवा रात्र्या च सन्ततम् ।
प्रभया तमसा चाऽपि ज्ञानतोऽज्ञानतो यथा ॥७॥

सुखदुःखादिभिः सम्यक् स्थूलसूक्ष्मात्मकं खलु ।
ब्रह्माण्डञ्च सदा व्याप्तमनुभूतञ्च भावुकैः ॥८॥

जैसे दिन और रात, प्रकाश और अन्धकार, ज्ञान और अज्ञान आदि से यह संसार निरन्तर द्वन्द्वात्मक है वैसे ही स्थूलसूक्ष्मात्मक और अनुभव करनेवालों के द्वारा अनुभूत यह ब्रह्माण्ड सदा सुख दुःखादि से सम्यक् परिव्याप्त है ॥७-८॥

सामञ्जस्यं तथा सृष्टेर्गत्या द्वन्द्वस्वरूपया।
समन्तात्सवर्वथा पातुं सुरा अप्यसुरा अपि ॥९॥

दैवे जगति लिप्सन्ते प्रभुत्वमतियत्नतः।

सुरासुरविरोधस्तत्सूक्ष्मे जगति सर्वदा ॥१०॥

इस संसारका स्वरूप द्वन्द्वमय होनेके कारण सृष्टिकी समता को सब ओर और सब तरह से रक्षा करने के लिये देवता और असुर अति यत्न से दैवजगत में अपने अपने प्रभुत्व को चाहते हैं इसी कारण सूक्ष्म जगत्में देवता और असुरोका सर्वदा विरोध रहता है ॥९-१०॥

देवराज्ये यदा देवाः प्राधान्यं यान्ति सर्वथा ।
धर्मपूर्णत्वतः सृष्टेः सामञ्जस्यं तदाऽनघं ॥११॥

दैवराज्य में जब देवताओं का सर्वथा प्राधान्य हो जाता है तब धर्म की पूर्णता हो जाने से सृष्टि में निर्दोष सामञ्जस्य होता है ॥ ११॥

कालप्रभावान्जीवानां प्रारब्धाच समष्टितः।
शैथिल्यं देवसाम्राज्यं यदा प्राप्नोति सर्वथा ॥१२॥

प्राधान्यममुराणान्तु वृद्धिमेति तदा ध्रुवम् ।
देवक्रियासु वैषम्यात्सृष्टौ नाना विपर्ययः ॥१३॥

काल के प्रभाव से अथवा जीवों के समष्टि प्रारब्ध के कारण देवताओं का आधिपत्य जब पूर्णत: शिथिल हो जाता है तब असुरों का प्राधान्य बढ जाता है यह निश्चित है और दैवक्रिया में वैषम्य हो जाने से सृष्टि में नाना विपर्याय होते हैं ॥१२-१३॥

क्षीणे तपसि देवानामसुरा यान्ति मुख्यताम् ।
तेषां तपःक्षये देवा लभन्ते प्रभुतां पुनः ॥१४॥

देवताओं के तप का क्षय हो जाने पर असुर मुख्यता को प्राप्त होते हैं और असुरों के तप का क्षय हो जाने पर देवता पुनः प्रभुता को प्राप्त हो जाते हैं ॥१४॥

आधिदैवे सदा राज्य इत्थं यान्ति सुरासुराः।
प्रभुत्वं निससंग्रामरहस्यं हि तयोरिदम् ॥ १५ ॥

सदा ही इस प्रकार अधिदैवराज्य में देवता और असुर समय समय पर प्रभुता को प्राप्त होते रहते हैं यही देवता और असुरों के परस्पर के नित्य संग्राम का रहस्य है ॥१५॥

सुराणाममुराणाञ्च सर्वदेवत्थमुत्कटः।
ब्रह्माण्डेऽपि च पिण्डेऽपि संग्रामो जायते महान् ॥ १६ ॥

सर्वदाही देवता और असुरों का इस प्रकार ब्रह्माण्ड में भी और पिण्ड में भी उत्कट महान् संग्राम होता है ॥१६॥

बहून्येव निमित्तानि समाश्रिय प्रवर्त्तते ।
सुरासुरेषु संग्रामो नैमित्तिक इहाऽमितः ॥ १७ ॥

और बहुत से निमित्त कारणों का प्राश्रय लेकर इस संसार में देवता और असुरो का असाधारण नैमित्तिक संग्राम भी प्रवृत्त होता है। ॥१७॥

पुरा यदा सुराः सर्वे भोगद्ध्या तपःक्षयम् ।
कुर्वन्तो बहुधा ह्यासन भीतभीताः प्रमादिनः ॥१८॥

प्राप्याऽवसरमुत्कृष्टमसुरा बलशालिनः।
राज्यविस्तृतये तीव्र यतमानाः सदाऽभवन् ॥१९॥

पूर्वकाल में जब ही देवता भोग के द्वारा तपःक्षम करते हुए अनेक प्रकार से अत्यन्त भयभीत और प्रमादी हो गये तब अपने लिये इस उत्तम अवसर को प्राप्त कर बलशाली असुर सदा राज्यविस्तार के लिए तीव्र यत्न करने लगे॥१८-१९॥

सिद्धानां देवराज्यानामंशास्तु बहवोऽभवन् ।
क्रमशोऽधिकृताः सम्यगसुरैबृलशालिभिः ॥२०॥

और बलशाली असुरों ने देवताओं की स्वाभाविक वासभूमि स्वर्गराज्य के बहुत से अंश सम्यक् प्रकार से क्रमशः अधिकार में कर लिये ॥ २०॥

नारदस्यैव देवर्षेस्तदा सदुपदेशतः ।
भयदुःखे निराकृस चक्रुस्तीत्र तपः सुराः ॥२१॥

उस समय देवर्षि नारद के सदुपदेश देने पर भय और दुःख का परित्याग करके देवताओं ने तीव्र तपस्या की ॥२१॥

प्रसन्नस्तपसा तेषां तत्त्वातीतः परात्परः ।
चिन्मयस्सन् महाविष्णुराविरासीत्पुरुः स्वतः ॥२२॥

उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर तत्त्वातीत परात्पर श्री महाविष्णु भगवान् स्वयं चिन्मय रूप से उनके सम्मुख आविर्भूत हुए ॥२२॥

चिन्मयोऽपि बभौ ज्योतिर्जितकोटिरविप्रभः ।
तेनाऽऽहतानि नेत्राणि तेषां संकोचमाप्नुवन् ॥२३॥

वे यद्यपि चिन्मय है, परन्तु उस समय वह करोडों सूर्यो की प्रभा को जीतने वाली ज्योति से शोभायमान होने लगे और उस ज्योति से देवताओं के नेत्र अभिभूत होकर सङ्कचित हो गये ॥२३॥

तज्ज्योतिः सूक्ष्मतां भेजे द्रुतमत्यन्तमद्भुतम् ।
चिव्याप्तं देवहृव्योम स्वत आकृष्टतां गतम् ॥२४॥

और वह अत्यन्त अद्भुत ज्योति तत्काल सूक्ष्मत्व को प्राप्त हुई और चिन्मयत्व से व्याप्त देवताओं के हृदयाकाश का स्वतः आकर्षण हुआ ॥२४॥

बाह्यबोधस्तदा देवाः शून्या आनन्दसागरे ।
सुखं निमज्जनं प्राप्ता मूच्छिता इव चाऽभवन् ॥२५॥

उस समय देवता बहिर्ज्ञान शून्य होकर आनन्दसागर में सुखपूर्वक डूब गये और मूर्छितों के समान हो गये ॥२५॥

तदा सुराणां मुग्धानां विद्यारूपा शुभप्रदा ।
विष्णुप्रिया महामाया हृद्याविर्भावयाप ह ॥२६॥

तब मुग्ध देवताओंके हृदयोंमें विद्यारूपा शुभदायिनी विष्णुप्रिया महामाया आविर्भूत हुईं ॥२६॥

निवृत्तायामविद्यायां मूछायां तत्समागमात् ।

देवैरधिगता सर्वैः सम्पूर्णा प्रकृतिस्थता ॥२७॥

बहिर्ज्ञानशून्य अवस्था में विद्या के समागम द्वारा अविद्या के निवृत्त होने पर सब देवता पूर्ण प्रकृतिस्थ हुए॥२७॥

ततः स्वच्छहृदो देवा ददृशुः सम्मुखस्थितम्।
कमप्यदृष्टपूर्वं हि पुरुषं परमाद्भुतम् ॥२८॥

तदनन्तर स्वच्छहृदय देवताओं ने सम्मुख स्थित अदृष्टपूर्व परम अद्भुत किसी पुरुष को देखा ॥२८॥

सर्वसौन्दर्यशोभाढयं शान्तज्योतिःसमुज्ज्वलम् ।
विस्मयानन्दसन्दोहप्रद दृष्टिमनोहरम् ॥२९॥

वह पुरुष सर्वसौन्दर्य की शोभा से पूर्ण हैं, शान्त ज्योति से प्रकाशमान हैं, अनेक विस्मय और अनेक आनन्द को देनेवाले और देखने में मनो हर हैं ॥२९॥

शङ्खचक्रगदापद्मसुशोभितचतुर्भुजम् ।
भक्तेभ्यस्तु चतुर्वर्ग प्रेम्णा दातुमिवाऽऽगतम् ॥३०॥

जिनके चारों हाथ शङ्ख चक्र गदा और पद्म से सुशोभित है, मानों भक्तो को प्रेमपूर्वक चतुर्वर्ग (धर्म अर्थ काम मोक्ष) देने को आये हैं ॥३०॥

दिव्यश्यामाकृति कान्तं कौस्तुभेन विभूषितम् ।
अनन्तरूपेऽनन्ताख्ये पर्यङ्के शायिनं विभुम् ॥३१॥

दिव्य श्याम जिनका वर्ण है, अनन्त रूप धारी अनन्त जिनका पर्याङ्क है, कौस्तुभमणि से विभूषित हैं ॥३१॥

कोटिमूर्यग्रहज्योतिःसेवितोज्ज्वलविग्रहम् ।
वनमालालसद्गात्रं विभ्रतकेयूरकुण्डलम् ॥३२॥

कोटि सूर्य-ग्रहों की ज्योतिसे सेवित प्रकाशमान शरीरवाले हैं, केयूर, और कुण्डल को धारण करने वाले हैं, वनमाला से विभूषित हैं ॥३२॥

नखात्मकनिरकेन्दुकौमुदीद्योतितं श्रिया।
सेवितं पुण्डरीकाक्षं स्मितशोभिमुखाम्बुजम् ॥३३॥

उनके नख मानों निष्कलङ्क चन्द्र हैं उनकी कौमुदी से वह शोभायमान हैं, लक्ष्मी के द्वारा सुसेवित हैं, कमलनेत्र है, मन्दहास्य से मुखकमल जिनका शोभायमान है ॥३३॥

स्थानं निःशेषशोभानां सौन्दर्यनिकराकरम्।
भगवन्तं रमानाथं प्रसन्नं पुण्यदर्शनम् ॥३४॥

अखिल शोभाके स्थान हैं, सब प्रकार के सौन्दर्य के आकर भगवान् रमानाथ प्रसन्न और पुण्य दर्शन हैं॥३४॥

दिव्यदृष्टयाऽथ ते देवा दृष्ट्वा विस्मितचेतसः।
अपूर्वदर्शनं देवमाविभूतं प्रतुष्टुवुः ॥ ३५ ॥

अनन्तर देवगण अपूर्व जिनका दर्शन है ऐसे आविर्भूत देवादि देव के दिव्य दृष्टि के द्वारा दर्शन करके विस्मित चित्त होकर स्तुति करनेलगे ॥ ३५ ॥

देवा ऊचुः ॥ ३६॥

देवगण बोले ॥३६॥

देवादिदेव ! हे नाथ ! विश्वेश्वर ! जगत्पते ।
सच्चिदानन्दरूपस्त्वमपरिच्छेदतो विभुः ॥ ३७॥

एक एवाऽद्वितीयोऽसि विश्वात्मा विश्वपालकः।
अनादिश्चाऽप्यनन्तोऽसि विश्वसेव्य ! नमोऽस्तु ते ॥३८॥

हे देवादिदेव ! हे नाथ ! हे विश्वेश्वर ! हे जगत्पते ! आप सच्चिदानन्दरूप, व्यवधानरहित, विभु अर्थात् व्यापक, अद्वितीय, एक, विश्वात्मा,विश्वपालक, अनादि और अनन्त हैं, हे विश्वसेव्य! आपको प्रणाम है ॥३७-३८॥

त्वमेवासि प्रभो ! कार्य त्वमेव कारणं सदा ।
कार्यकारणरूपस्त्वं सर्वात्मक ! नमोऽस्तु ते ॥३९॥

हे प्रभो ! सदा आप ही कार्य और आप ही कारण हैं, आप कार्य कारण रूप हैं, हे सर्वात्मक ! आपको प्रणाम है ॥३६॥

भवानेव जगन्नूनं जगदेव भवान् विभो !।
भवत्येव जगद् भाति जगद्रूप ! नमोऽस्तु ते ॥४०॥

हे विभो! आप अवश्य ही जगत् हैं और जगत् ही आप हैं एवं आपमें ही जगत भासमान होता है, हे जगद्रूप! आपको प्रणाम है ॥४०॥

जगदभूयो भवत्येव वर्तते किन्तु तत्त्वतः।
न वर्त्तते भवाँस्तत्र विश्वाधार ! नमोऽस्तु ते ॥४१॥

पुनः आपमें ही जगत् स्थित है परन्तु तत्त्वतः आप उसमें नहीं हैं, हे विश्वाधार ! आपकोप्रणाम है ॥४१॥

तवैव प्रकृतिस्त्वत्तोऽव्यक्ताऽपि व्यक्तिमागता।
बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्राभूतेन्द्रियतया सदा ॥४२॥

स्थूलसूक्ष्मात्मकं विश्वमुत्पादयति सर्वथा ।
मूलशून्य ! जगन्मूलमूलभूत ! नमोऽस्तु ते ॥४३॥

आप ही की अव्यक्ता प्रकृति भी व्यक्ता होकर बुद्धि अहङ्कार तन्मात्रा पञ्चभूत और इन्द्रियरूप से सदा स्थूल सूक्ष्मात्मक विश्वको सर्वथा उत्पन्न करती है, हे प्रभो! आप जगत् की मूल जो प्रकृति उसके भी मूल हो और स्वयं मूलशून्य हो, आप को प्रणाम है ॥४२-४३॥

कोषेणाऽनमयेन त्वं स्थूलविश्वमयो भवन्।
जीवान् विमोहयस्येव मोहहेतो ! नमोऽस्तु ते ॥४४॥

अन्नमयकोषसे आप स्थूल विश्वमय होते हुए जीवों को मोहित करते हैं, हे मोहहेतो ! आपको प्रणाम है॥४४॥

स्थूलो वै मृत्युलोकोऽस्ति सूक्ष्मो लोकोऽस्ति वैबुधः।
भवान् प्राणमयः कोषो भूत्वा स्थापयति स्वतः ॥४५॥

परस्परं सुसम्बन्धमनयोर्लोकयोः सतोः।
सम्बन्धस्थापनाकम्मदक्षताभाक् ! नमोऽस्तु ते ॥४६॥

स्थूल मृत्युलोक और सूक्ष्म दैवलोक इन दोनों लोकोंका परस्पर सम्बन्ध आप प्राणमयकोष होकर स्वतः स्थापन करते हैं, हे सम्बन्ध स्थापन के कर्म में परम दक्ष ! आपको प्रणाम है ॥४५-४६॥

मनोमयेन कोषेणाविद्यायाः परमादभुतम्।
विज्ञानमयकोषेण विद्यायाश्च निकेतनम् ॥४७॥

सृष्टवाऽऽनन्दमये कोषे निसानन्दो विराजसे।
सृष्टिशोभादिनैपुण्यकुलगेह ! नमोऽस्तु ते ॥४८॥

मनो-मय कोष से परम अद्‌भुत अविद्या निकेतन को बना कर और विज्ञानमय कोष से विद्या के निकेतनको बनाकर आनन्दमयकोष में आप नित्यानन्दरूप से विराजमान रहते हैं, आप सृष्टि की शोभादि के नैपुण्य में मुख्याधिष्ठाता हैं, आपको प्रणाम है ॥४७-४८॥

वैचित्र्यं भवतोऽपूर्व भवान् सन् हि भवानसन्।
सदसद्भ्यामतीतोऽपि भवान् भाति नमोऽस्तु ते ॥ ४९ ॥

आपका अपूर्व वैचित्र्य है, आप सत् भी हैं और असत् भी हैं एवं आप सत् असत् से अतीत भी प्रतीत होते हैं, आपको प्रणाम है ॥४९॥

तवैवार्द्धाङ्गिनी शक्तिस्तुरीया विश्वमोहिनी ।
कारणस्थूलसूक्ष्मत्वमधिगस निरन्तरम् ॥५०॥

ब्रह्माण्डं बहुधाऽनन्तं प्रसूते पाति च स्वतः।
विचित्रशक्ते ! शक्तीश ! निसशक्त ! नमोऽस्तु ते ॥५१॥

आपकी ही अर्धाङ्गिनी विश्वमोहिनी तुरीया शक्ति कारण सूक्ष्म और स्थूलरूप को प्राप्त होकर अनेक प्रकार से अनन्त ब्रह्माण्डो को निरन्तर उत्पन्न करती हैं और रक्षा करती हैं, हे विचित्रशक्ति ! हे शक्तीश! हे नित्यशक्त ! आपको प्रणाम है। ॥५०-५१ ॥

भवानेव महाविष्णुस्त्वत्तोऽसंख्या निरन्तरम् ।
ब्रह्माणो विष्णवो रुद्रा आविर्भाव परं गताः ॥५२॥

स्वस्वब्रह्माण्डसवानां सृष्टिस्थितिलयानलम् ।
सम्पादयन्ति नियतं सर्वधातर्नमोऽस्तु ते ॥५३॥

आप ही महाविष्णु हैं आपसे असंख्य ब्रह्मा विष्णु और रुद्र निरन्तर आविर्भाव को प्राप्त होकर अपने अपने ब्रह्माण्डसंघों के सृष्टि स्थिति और प्रलयों को नियतरूप से सम्पादन करते हैं, हे सर्वधातः! आपको प्रणाम है ॥५२-५३॥

जड़े सच्चेन चित्त्वेन चेतने तु द्वयोस्तयोः।
आनन्दत्वेन भासि त्वं सच्चिदानन्द ! ते नमः ॥५४॥

जड़ में सत्सत्तारूप से और चेतन में चित्सत्तारूप से और सत् चित् इन दोनों में आनन्द सत्ता रूप से आप भासमान होते हैं, हे सच्चिदानन्द ! आपको प्रणाम है ॥ ५४॥

विष्णोः सूर्य्यस्य शक्तेश्च गणेशस्य शिवस्य च।
रूपेण सगुणं रम्यं गृहीत्वा मूर्तिपञ्चकम् ॥५५॥

भवानेकोऽद्वितीयः सन्नुपास्तिपदवीं हिताम् ।
करोति सुगमा देव ! भक्तिहतो ! नमोऽस्तु ते ॥५६॥

हे देव ! विष्णु सूर्य शक्ति गणेश और शिवके स्वरूप से मङ्गलकर सगुण पञ्चमूर्ति को ग्रहण करके आप एक और अद्वितीय होने पर भी हितकारक उपासना की शैली को सुगम करते हैं, हे भक्तिहेतो ! आपको प्रणाम है ॥५५-५६ ॥

सर्वेश्वर ! भवानव स्वयं यज्ञेशरूपतः ।
मोक्षदां कर्मकाण्डीयां गति पासि नमोऽस्तु ते ॥ ५७ ॥

हे सर्वेश्वर ! आप स्वयं ही यज्ञेश्वर रूप से मोक्षदायिनी कर्म काण्डीय गति की रक्षा करते हैं आपको प्रणाम है ॥५७॥

त्वं चिद्भावमयो विष्णुः सद्भावात्ममयः शिवः ।
तेजोभावमयः मूर्यो गणेशो ज्ञानितामयः ॥५८॥

शक्तिभावमयी देवी भूत्वाऽभ्याऽन्याऽधिकारिणः ।
बोधयत्यात्मबोधं सगुणोपास्तौ नमोऽस्तु ते ॥ ५९ ॥

आप चिद्भावमय विष्णु सद्भावमय शिव, तेजोभावमय सूर्य, ज्ञान भावमय गणेश और शक्तिभावमयी देवी होकर अन्यान्य अधिकारियों को सगुणोपासना में आत्मज्ञान का उपदेश देते हैं, आपको प्रणाम है। ॥५८-५९॥

हे सर्वशक्तिमन् ! शक्त ! हे सर्वात्मन् ! कृपानिधे ।
तवैव शक्तितो नूनं भवामश्चालिता वयम् ॥६०॥

हे सर्वशक्तिमन् ! हे शक्त ! हे सर्वात्मन् ! हे कृपानिधे! आपकी ही शक्तिसे हम सब देवतागण चालित होते हैं यह निश्चय है। ॥६०॥

तवैव सत्तया देव ! सत्तावन्तो वयं तव ।
आश्रिता आपि मूढास्त्वां विस्मरामो हि मायया ॥६१॥

आप की ही सत्ता से हे देव ! हम सत्तावान् हैं, आपके आश्रित होने पर भी हम मूढ़ माया के द्वारा आपको भूल जाते हैं ॥६१॥

त्वाद्विस्मृतिमतां मोहमस्माकं हरसि प्रभो!।
विपच्छासनतो नूनमहो ते महती दया ॥६२॥

हे प्रभो! आपको भूलनेवाले हमलोगों को मोह को आप विपत्ति रूप शासन के द्वारा अवश्य हरण करते हैं, अहो ! आपकी महती दया है॥६२॥

वयं शरणमापन्नाः शरणागतवत्सल !।
भयं नो मोहजं येन विनश्यति तथा कुरु ॥६३॥

हे शरणागतवत्सल ! हम आपके शरण आये हैं जिससे हमारा मोहजनित भय नाश हो जाय ऐसा आप करें ॥६३॥

तथोपदेशं याचामो ज्ञातुं स्म ञ्च तत्त्वतः ।
त्वां शताः स्मो यथा मोहे न पतामः पुनः क्वचित् ॥६४॥

ऐसे उपदेशकी हम आपसे याचना करते हैं जिससे हम आपको तत्त्वरूपसे जानने को और स्मरण करने को समर्थ हो सकें और पुनः कभी मोह में नहीं पड़ें ॥६४॥

विश्वासो नो ध्रुवो जातो यत्त्वां संस्मरतां सदा ।
अस्माकं निखिला भीतिस्तापोऽभावश्च नक्ष्यति ॥६५॥

हम लोगों को ठीक विश्वास हो गया है कि आपको सदा स्मरण करने से हमारे सब भय, त्रिविध ताप और अभाव नाश हो जायेंगे ॥६५॥

त्वां सदा स्मरतां नूनमुद्यमो नः फलिष्यति।
सर्वे मनोरथाः सिद्धा भविष्यन्ति नमोऽस्तु ते ॥६६॥

आपको सदा स्मरण करनेसे निश्चय ही हमारा पुरुषार्थ सफल होगा और हमारे सभी मनोरथ सिद्ध होंगे, आपको प्रणाम है ॥ ६६ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ६७ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ६७॥

युष्माकं स्तुतिभिर्देवाः ! प्रसन्नोऽस्मि ततस्त्वहम् ।
श्रेयसे वो यथायोग्यं ब्रवीमि वचनं शुभम् ॥६८॥

हे देवतागण ! मैं तुम्हारी स्तुतिसे प्रसन्न हुआ इस कारण तुम्हारे कल्याण के लिये मैं यथायोग्य शुभ वचन कहता हूँ ॥६८॥

सदाचारच्युता यूयं भवथ स्म दिवौकसः।
स्वकर्तव्यं स्वधर्मश्च भवन्तो व्यहमरच्छुभम् ॥६९॥

तुम लोग सदाचारभ्रष्ट होगये हो इस कारण तुम मंगलमय निज कर्त्तव्य और स्वधर्मा को भूल गये हो ॥६९॥

अत एव समाक्रामच्चित्तं वो मोहज भयम् ।
त्तापोऽयोग्यप्रवार्त्युत्थोऽभावो मत्स्मृतिनाशत: ॥७०॥

इसी से तुम्हारे चित्त पर मोह जनित भय, अयोग्य- प्रवृत्ति जनित ताप और मेरे विस्मरण जनित अभाव, इन सभी ने अधिकार कर लिया है ॥७०॥

यूयामाचारश्चेत्स्वककर्तव्यपरायणा: ।
स्वधर्मनिरताश्चाऽपि भवितुं खलु शक्ष्यथ ॥७१॥

माच्चित्ताश्चेत्तदा यूयं भयात्तापादभावतः ।
विमुक्ताः सर्वकल्याणं लप्स्यध्वे मत्प्रसादतः ॥७२॥
यदि तुम आचारवान् होने से कर्तव्य परायण, स्वधर्मनिरत और मद्गतचित्त हो सकोगे तभी भय और ताप मुक्त होकर सभी प्रकार के अभाव को दूर करते हुए मेरी कृपा से यावत् मङ्गल लाभ करोगे ॥७१-७२॥

आचारः सर्वकल्याणमूलं नूनं दिवौकसः !॥
शक्ष्यन्त्याचारवन्तो हि प्राप्तुं कल्याणसम्पदः ॥७३॥

हे देवगण ! आचार ही सब कल्याणों का मूल है आचारवान ही सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं ॥७३॥

आचारमूला जातिः स्यादाचारः शास्त्रमूलकः।
वेदवाक्यं शास्त्रमूलं वेदः साधकमूलकः ॥७४॥

साधकश्च क्रियामूलः क्रियाऽपि फलमूलिका।
फलमूलं सुखं देवाः ! सुखमानन्दमूलकम् ॥७५॥

आनन्दो ज्ञानमूलस्तु ज्ञानं वै ज्ञेयमूलकम् ।
तत्त्वमूलं ज्ञेयमानं तत्वं हि ब्रह्ममूलकम् ॥७६॥

ब्रह्मज्ञानं त्वैक्यमूलमैक्यं स्यात्सर्वमूलकम् ।
ऐक्यं तद्धि सुपर्वाणः ! भावातीतं सुनिश्चितम् ॥७७ ॥

जाति आचार मूलक होती है, प्राचार शास्त्र मूलक होता है, शास्त्र का मूल वेदवाक्य है, वेद का मूल साधक है, साधक की मूल क्रिया है, क्रिया का मूल फल है, हे देवगण ! फल का मूल सुख है, सुख का मूल आनन्द है, आनन्द का मूल ज्ञान है, ज्ञान का मूल ज्ञेय है, सकल ज्ञेयों का मूल तत्व है, तत्त्व का मूल ब्रह्म है, ब्रह्मज्ञान का मूल ऐक्य है और ऐक्य सबका मूल है, हे देवगण ! वही ऐक्य भावातीत है यह निश्चित है ॥७४-७७॥

भावातीतमिदं सर्वे प्रकाशये भावमात्रकम ।
नास्त्यत्र संशय: को पि सत्यं सत्यं वदाम्यहम ॥७८॥

यह सकल संसार प्रकाश रूप से केवल भावमय है परन्तु वस्तुतः भावातीत है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है मैं सत्य सत्य कहता हूँ ॥७८॥

अज्ञानदेव भीतीनामुत्पत्तिजायते सुरा : ।
अज्ञानमेव जन्तूनां हेतुस्तापत्रयस्य वै ॥७९॥

हे देवगण ! अज्ञानसे ही भय की उत्पत्ति होती है, अज्ञान ही त्रिताप का कारण है ॥ ७९ ॥

ज्ञानेन रहिता जीवा: साधुसैभाग्यवंचिता: ।
द्रष्टुं स्मर्तुञ्च मां नित्यं कदाचिदपि नेशते ॥८०॥

ज्ञानरहित जीव सौभाग्यसे वञ्चित हैं और वह मेरे दर्शन लाभ करने में और यहां तक कि मेरे स्मरण करने तक में असमर्थ होते हैं। ॥८०॥

नूनं कर्तव्यनिष्ठो यो निजधर्मपरायणः ।
ज्ञानवान्स भयान्मुक्तः सयमेव ब्रवीमि वः ॥८१ ॥

परन्तु मैं तुम्हें सत्य कहता हूँ कि जो कर्तव्यनिष्ठ और स्वधर्मपरायण होते हैं वह अतिसुगमता से ही आत्मज्ञान लाभ करके भयमुक्त हो जाते हैं ॥८१॥

तापत्रयं न शक्नोति कदाचित् स्प्रष्टुमेव तम् ।
अचिरेणैव कालेन स मुक्तिमधिगच्छति ॥८२॥

पुनः त्रिताप उनको स्पर्श नहीं कर सकता और वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं ॥८२॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलसागस्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥८३॥

अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान विशेष माना गया है, ध्यानसे कर्मफलों का त्याग श्रेष्ठ है और त्याग के अनंतर ही शान्ति होती है ॥८३॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च माय पश्यति ।
तस्याऽहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ८४ ॥

जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है उसके लिये मैं कभी अन्तर्धान नहीं होता हूँ और वह भी मुझसे अदृश्य नहीं होता है ॥ ८४॥

देवा ऊचुः ॥ ८५॥

देवतागण बोले ॥ ८५॥

देवादिदेव ! सर्वज्ञ ! सृष्टिस्थितिलयप्रभो !
त्वद्विस्मरणतो नूनं दुर्गतिर्नोऽभवत्स्वयम् ॥८६॥

हे देवादिदेव ! हे सृष्टिस्थितिप्रलयकर्त्ता ! हे सर्वज्ञ ! अब हमलोगों को यह विदित हुआ कि आपको विस्मृत होने से ही हमलोगों की यह दुर्गति हुई है॥८६॥

आज्ञाऽस्ति भवतः सत्या जीवा अभ्यासयोगतः।
निर्भयायां पदव्यान्तु भवन्सग्रेसरा ध्रुवम् ॥८७॥

क्रमशो निर्भयाः सन्तस्ते जीवा भाग्यशालिनः ।
अतुलां परमां शान्तिमधिगच्छन्ति सत्वरम् ॥८८॥

आपकी आज्ञा सत्य है कि अभ्यास के द्वारा ही जीव निर्भयपद की ओर अग्रसर होते हैं और क्रमशः भयरहित होकर परमभाग्यशाली हो परमशान्ति को शीघ्र प्राप्त करते हैं ॥८७-८८॥

तदुक्तक्त्रमतो देव ! दीनाश्रय ! यथा वयं ।
प्रशांता निर्भया: स्याम कृप्यैव तथाऽऽदिश ॥८९॥

अतः हे दीनजनों के आश्रयदाता ! आपके कहे हुए क्रमके अनुसार हम शान्ति को प्राप्त करके कैसे भयरहित हो सकते हैं वह कृपया आज्ञा कीजिये ॥८९॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ९० ॥

महाविष्णु बोले ॥ ९० ॥

हे देवाः ! इन्द्रियैर्जीवा विषयेषु निरन्तम् ।
सक्ताः सन्तस्तदाकारवृत्तिभिः स्युः मुदुःखिताः ॥९१॥

हे देवगण ! जीव इन्द्रियों की सहायतासे विषयों में फँसकर विषयाकार वृत्ति को प्राप्त करता हुआ नाना दुःख प्राप्त करता है॥९१॥

दशेयमेव भीहेतुः स्वर्गादिप्राप्तिकारणम् ।
एषैव विषमा नूनं आवागमनकारणम् ॥ ९२ ॥

यही दशा सब भयों की कारण है, यही दशा स्वर्ग नरक प्रेत पितृ आदि नाना लोकप्राप्ति और आवागमनका मूलकारण है ॥९२॥

ततो विषयवैराग्यैर्यदा शिथिलबन्धनः।
प्रारब्धवान् साधकः स्यात्तदा सफलतालयः ॥९३ ॥

तदैव विमलं ज्ञानमासाद्य निर्मलाशयः।
समुन्नताधिकराप्तेरधिकार भवत्यलम् ॥९४॥

अतः विषयवैराग्य द्वारा इस बन्धनको शिथिल करता हुआ अभ्यास की सहायता से प्रारब्धवान् साधक जब सफलता लाभ करता है तब ही वह ज्ञानवान् होकर उन्नत अधिकार प्राप्त करनेका अधिकारी बनता है ॥९३-९४॥

नश्वरस्य शरीरस्य सम्बन्धाद्भवतां भयम् ।
भ्रान्तिमूलं यदेतत्तद्देवाः ! तत्त्वबुभुत्मवः ! ॥९५ ॥

हे तत्त्वनिज्ञासु देवतागण ! नश्वर शरीरके सम्बन्ध से आपलोगों का जो भय है सो भ्रममूलक है॥९५॥

इह दृश्यानि सर्वाणि नवराणि भवन्यहो ।
अविवेकमयोऽयं यत्समारोऽतो भयाप्लुतः ॥९६॥

इस संसार की समस्त वस्तु नश्वर है, विशेषतः यह संसार अज्ञानमय होनेके कारण भय से पूर्ण है ॥९६॥

अविवेकसमुद्भूतविषयासक्तितः कचित् ।
लब्धुं न कोऽपि शक्नोति निर्भयत्वामिह स्वतः ॥९७॥

अज्ञानसम्भूत विषयमें प्रासक्त रहनेसे कोई भी भयरहित नहीं हो सक्ता ॥८७॥

पुत्रमित्रकलत्रादिस्वजनाः स्वस्वकर्मणा ।
भोगार्थं युगपन्नूनमेकत्रोत्पत्तिमाश्रिताः ॥९८॥

आत्मीयत्वेन राजन्ते ध्रुवं स्वस्वार्थसिद्धये ।
संस्थाप्यानृतसम्बन्धमेषु यान्ति महद्भयम् ॥९९॥

पुत्र मित्र कलत्रादि स्वजन केवल अपने अपने कर्म भोगने के लिये एक देशकाल में उत्पन्न होकर अपने अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये आत्मीय रूप से प्रतीत होते हैं उनमें मिथ्या सम्बन्ध स्थापन करके देही अनेक भयों को प्राप्त होता है ॥६८-६९॥

एतदात्मीयजं दुःखं भयं चाऽज्ञानमूलकम् ।
न जायते सुखं सत्यं नश्वरात्काञ्चनादितः ॥१००॥

यह सब आत्मीयजनित भय और दुःख अज्ञानमूलक है। नश्वर कामिनी काञ्चन आदि भोगपदार्थ अपनी नश्वरता के कारण कदापि सत्य सुख को उत्पन्न नहीं कर सकते ॥१००॥

ईशे नश्वरेऽर्थे हि सक्तो देही निरन्तरम्।
विविधं दुःखमाप्नोति भयञ्चैवाऽधिगच्छति ॥१०१॥

इस प्रकार के नश्वर विषयों में फंसकर देही निरन्तर अनेक प्रकारके दुःख और भय प्राप्त करता है ॥१०१॥

जरामृत्युभयं देहे पुत्रादौ कालजादिकम्।
राजंतस्करजं द्रव्ये जराजं यौवने भयम् ॥ १०२॥

शरीरमें जरा और मृत्यु का भय है, पुत्रकलत्रादि में काल और वियोग का भय है, धन में राजा और चोर का भय है, यौवन में वार्द्धक्य का भय है ॥१०२॥

जरारोगभयं रूपे वले शत्रुभवं भयम् ।
भोगे रोगभयं नूनं कुले पतन भयम् ॥ १०३ ॥
रूप में जरा और रोग का भय है, बल में शत्रु का भय है, भोग मे रोगका भय है, कुल में पतित होने का भय है ॥१०३॥

दीनताजं भयं माने गुणे खलभयं खलु ।
भयं निन्दकजं शक्तौ विद्यायां वादिनं भयम् ॥१०४ ॥

मान में दीनता का भय है, गुण में खलों का ही भय है, शक्ति में निन्द का भय है, विद्या में वादी का भय है।॥१०४॥

स्वर्गेऽपि प्रार्थ्यमानेऽस्मिन्नीपर्याप्तनज भयम् ।
वैराग्यपदमेवाऽत्र तिष्ठत्यभयमुत्तमम् ॥१०५॥

सब लोगों के अभीप्सित स्वर्ग में भी ईष्या और पतन का भय है , केवल उत्तम वैराग्यपद ही भयरहित है ॥१०५॥

येनैव हि विचारेण तत्तु लभ्येत निर्जराः !।
जगतां श्रेयसे नूनं तं ब्रवीमि निबोधत ॥१०६॥

हे देवतागण ! जिस विचारके द्वारा इसकी प्राप्ति निश्चय ही होती है उसको जगत् कल्याण के लिये ही कहता हूँ सो जानो ॥१०६॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कोमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिधीरस्तत्र न मुह्यति ॥१०७॥

देहाभिमानी जीव का जिस प्रकार इस देह में कौमार यौवन और वार्धक्य है देहान्तरप्राप्ति अर्थात् मृत्यु भी उसी प्रकार है (अवस्थाभेदमात्र है) अतएव ज्ञानी उसमें मोहित नहीं होते हैं ॥१०७॥

मात्रास्पर्शास्तु गीर्वाणाः! शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्ताँस्तितिक्षध्वमुत्तमाः ! ॥१०८॥

हे श्रेष्ठ देवगण! इन्द्रियोंकी वृत्ति और उनके साथ इन्द्रियों के विषयो का संयोग ये ही शीतोष्णादि सुख दुःख को देनेवाले हैं। ये सब आगमापायी (उत्पत्तिनाशविशिष्ट) है अतएव अनित्य हैं उनको सहन करो अर्थात् हर्षविषाद आदि के वशीभूत मत हो ॥१०८॥

यं हि न व्यथयंत्यते पुरुषं विबुर्ष्भाः।
ममदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१०९॥

हे देवश्रेष्ठो! ये सब (मात्रास्पर्श) सुख दुःख में संभव युक्त जिस धीर व्यक्ति को व्यथा नहीं देते हैं वह अमरत्व प्राप्त करता है ॥१०९॥

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः।
उभयोराप दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ११० ॥

अनित्य वास्तु स्थायी नहीं है और नित्य वास्तु का विनाश नहीं होता, अर्थात अनित्य शरीर और जगत का अवश्य नाश होगा और नित्य वस्तु आत्मा का क्तिकाल मे विनाश नहीं है । तत्त्वदर्शी लोगोंने इन दोनोंका ही तत्त्व देखा है।॥ ११०॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्याऽस्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥१११॥

जो उत्पत्तिनाश शील इन सब देहादि में व्याप्त है उस आत्मस्वरूप को अविनाशी मानना चाहिए। कोई भी उस अव्यय उत्पत्तिनाशशून्य आत्मा का विनाश नहीं कर सकता ॥१११॥

यदा वो मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तास्थ निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥११२॥

जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूप गहन दुर्ग अर्थात देहादि में आत्मबुद्धि को परित्याग करेगी तब तुम श्रोतव्य और श्रुत अर्थों से वैराग्य प्राप्त होगे ॥ ११२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना वो यदा स्थास्यति निश्चला।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यथ ॥११३॥

जब तत्त्वज्ञान सम्बन्धी उपदेशों के सुनने से और उनके मनन के द्वारा तुम्हारी बुद्धि अविचलित होकर समाधि उत्तमरूप से स्थिर रहेगी तब तुम योग प्राप्त होगे। ॥११३॥

बासस्पर्शेष्वसत्तात्मा विन्दत्यात्माने यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा मुखमक्षय्यमश्नुते ॥११४॥

बाहोन्द्रियों के सभी विषयों में अनासक्तचित्त व्यक्ति, आत्मा में जो शान्ति सुख है उसकी प्राप्ति करता है, वह ब्रह्म में योग के द्वारा युक्तात्मा होकर अक्षय सुख प्राप्त करता है ॥११४॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तो विबुधाः ! न तेषु रमते बुधः ॥ ११८॥

विषयजनित जो सब सुख हैं वह निश्चय ही दुःख के हेतु हैं एवं आदि और अन्त विशिष्ट अर्थात् अनित्य हैं इसी कारण हे देवगण ! विवेकी पुरुष इन सबमें रत नहीं होते हैं ॥ ११५॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥११६॥

जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्र परित्याग करके दुसरे नवीन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीर परित्याग करके अन्य नूतन देह धारण करता है ॥ ११६ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि निर्जराः ।
अव्यक्तनिधनान्येव ह्येतदेवावधार्यताम् ॥११७॥

हे देवगण ! सकल भूत प्रारम्भ में अव्यक्त चक्षु आदि के अगोचर हैं, केवल बीच में व्यक्त-प्रकाशित हैं एवं मरणकाल में भी अव्यक्त हैं, यह सब ही आप विचार करें ॥११७॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनपाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्याः।
आश्चर्यवच्चैन्मन्य: शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कांश्चित

कोई इस आत्मा को आश्चर्यवत् देखता है, इसी प्रकार कोई इसको आश्चर्य्यवत् कहता है और कोई इस को आश्चर्य्यवत् सुनता है और कोई सुनकर भी इसको नहीं जानता है ॥ ११८॥

इति श्रीविष्णु गीतासूप निषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रं
देवमहाविष्णुसंवादे वैराग्ययोगवर्णनं नाम प्रथमोऽध्याय।

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद के ब्रह्मविद्या सम्बन्धी देवमहाविष्णु संवादात्मक योगशास्त्र का वैराग्ययोग वर्णन नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्री विष्णवे नमः॥

॥ श्री विष्णु गीता ॥

अथ द्वितीयोऽध्याय : द्वितीय अध्याय

सृष्टिसृष्टिधारकयोगवर्णनम्

देवा ऊचुः॥१॥

देवतागण बोले ॥१॥

देवाधिदेव ! हे नाथ ! भवतः कृपयाऽधुना।
ज्ञात्वा वैराग्यमाहात्म्यं तत्स्वरूपच सुस्फुटम् ॥ २॥

निर्भया: स्मो वयं जाता देवास्त्वत्पदसेविन: ।
इदानी वर्णयन्सम्यक् सृष्टिप्रकरणं तथा ॥३॥

तद्रहस्यं महाविष्णो ! ज्ञापयन्यच्छ नोऽधुना।
विवेकं तादृशं येन जानीमो विस्तराद्वयम् ॥ ४॥

का सृष्टिः कश्च सम्बन्धस्तया नस्सह सम्मतः॥ ५ ॥

हे देवादिदेव! हे नाथ ! इस समय वैराग्य की महिमा और उसका स्वरूप आपकी कृपा से भलीभांति जानकर हम सब आपके चरणसेवक देवगण भय से रहित हुए हैं। अब हे महाविष्णो!

सृष्टिप्रकरण और उसका रहस्य अच्छी तरह वर्णन करके हमको ऐसा विवेक दीजिए जिससे हम अच्छी तरह समझ सकें की सृष्टि क्या है और सृष्टि के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है। ॥२-५॥

महाविष्णुरुवाच ॥६॥

महाविष्णु बोले ॥६॥

निर्गुणावस्थितावस्मि खल्वव्यक्तोऽद्वितीयकः ।
आविर्भवति मे शक्तिमर्त्त एव यदा सुराः ! ॥७॥

महाविष्णुस्तदा भूत्वा सगुणं धारये वपुः।
शक्तिर्मम महामाया द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो वपुः ॥ ८॥

विद्यारूपेण सततं सेवायां रमते मम ।
करोति ज्ञानिनो जीवन्मां प्रत्रेसरंश्च सा ॥९॥

मैं निर्गुण अवस्था में अव्यक्त और अद्वितीय ही रहता हूँ। हे देवता गण ! जब मेरी शक्ति मुझसे ही उत्पन्न होती है तब मैं महाविष्णु होकर सगुणरूपको धारण करता हूँ। मेरी शक्ति महामाया अपने में से दो रूप प्रकट करके वे विद्यारूप से सदा मेरी सेवा में रत रहती हैं और वे ज्ञानी जीवों को मेरी ओर अग्रसर करती रहती हैं ॥ ७-९॥

तथाऽविद्यास्वरूपेण सैव जीवानर्निशम ।
अज्ञानबन्धने बद्ध्वा तेषां बंधनकारणम ॥१०॥

सृष्टिस्थित्योश्च जगत: कारणं भवति ध्रुवम ।

वस्तुतोऽह निजानन्दप्रकाशाय हि केवलम् ॥ ११ ॥

धरामि द्वैतरूपं तज्जानीत विबुर्ध्भा: ।
ममानन्दस्य तस्याऽस्ति महामायैव कारणम् ॥ १२॥

वे ही पुनः अविद्यारूप से जीवों को अज्ञानबन्धन में अहर्निश फंसाकर उनके बन्धन तथा जगत की सृष्टि स्थिति का निश्चित कारण बनती हैं। हे श्रेष्ठ देवगण ! वास्तव में केवल अपने आनन्द के प्रकाश के लिये ही मैं द्वैतरूप को धारण करता हूँ, इस बात को जानो । मेरे उस आनन्दका कारण महामाया ही है॥ १०-१२ ॥

माच्छत्तिरूपां या प्राहुर्मूलप्रकृतिरित्यापी ।
विदन्ति प्रकृति तां मे त्रिगुणां तत्त्वदर्शिनः ॥१३॥

जिसको मेरी शक्तिरूपिणी और मूलप्रकृति भी कहते हैं। उस मेरी प्रकृति को त्रिगुणमय करके तत्त्वदर्शिगण जानते हैं ॥१३॥

नाना तत्त्वविभाक्तां तां केचन ज्ञानिनो विदु: ।
तामेव प्रकृति केचिच्चतुर्विंशतिधा जगुः ॥१४॥

कोई तत्त्वज्ञानी उसको नानातत्त्वों में विभक्त जानते हैं। कोई तत्वज्ञानी उसी प्रकृति को चतुर्विंश भाग में विभक्त कहते हैं ॥१४॥

वस्तुतो मेऽष्टधा भिन्ना प्राधान्यत्प्रकृतिर्मता ।
जगत्प्रविनी शक्तिर्युमाभिरवधार्य्यताम ॥१५॥

वास्तवमें प्रधानतः मेरी शक्तिरूपिणी जगत्प्रसविनी प्रकृति अष्टया विभक्त है, सो आप जानें ॥ १५॥

अन्या चेतनमय्यस्ति प्रकृतिर्जीवमुक्तिदा ।
उक्ताष्टप्रकृर्तेर्भिना यां ही पश्यन्ति योगिन: ॥१६॥

और चेतनमयी प्रकृति जो जीव को मुक्त करती है, वह इससे अलग है जिसको योगी लोग उक्त आठ प्रकार की प्रकृति से भिन्न देखते हैं ॥१६॥

मम प्रकृतिसम्भूतसंसारस्य सुरर्षभाः ।
सृष्टिः प्रवाहरूपेण ह्यनाद्यन्ता प्रकीर्तिता ॥१७॥

हे देवगण ! मेरी प्रकृति से उत्पन्न इस संसार की सृष्टि प्रवाह रूप से ही अनादि अनन्त कही गई है ॥१७॥

अपि ब्रह्माण्डमयस्यानन्तत्वे प्रकृतिर्मम।
प्रतिब्रह्माण्डमेवासौ सृष्टिस्थितिलयान्खलु ॥१८॥

स्वयं करोति दुर्जेया जीवैर्मद्वशत्तिनी।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां रूपेणाऽहं सहायवान् ॥१९॥

सृष्टिस्थितिलये वर्ते प्रतिब्रह्मंडेव हि ।
स्वस्वशक्तचाश्रयान्नूनं त्रय एते हि हेतवः ॥ २०॥

सृष्टिस्थितिल्याना वै भवन्ति सुरसत्तमा:
ब्रह्मा मच्छक्तिमाश्रित्य जीवकर्मानुसारतः ॥ २१ ॥

तथा स्वाभाविकं कर्माप्रवाहं प्रकृतेः सुराः ।
आश्रित्य तनुते नित्यं स्थावरं जङ्गमं जगत् ॥ २२ ॥

ब्रह्माण्डसमूह के अनन्त होने पर भी प्रत्येक ब्रह्माण्ड की ही उत्पत्ति स्थिति और लय, जीवों के द्वारा दुर्ज्ञेया यह मेरी प्रकृति मेरे वश में रहकर स्वयं ही करती है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में मैं ही ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपसे सृष्टि स्थिति और लय में सहायक रहता हूँ ! हे श्रेष्ठ देवगण ! स्थिति और लयके कारण होते हैं। हे देवगण ! ब्रह्मा मेरी शक्ति का आश्रय लेकर जीवों के पूर्वकर्म के अनुसार तथा प्रकृति के स्वाभाविक कर्म-प्रवाह का अवलम्बन करके स्थावर जङ्गमात्मक संसार को सदा विस्तार करते हैं ॥१८-२२॥

उद्भिदः स्वेदजस्याथ झण्डजस्य तथा सुराः ।
जरायुजस्य मर्त्तना पितृणां भवतां तथा ॥२३॥

तत्त्वज्ञानोपदेष्टृणामृषीणां चैव सर्वशः।
ब्रह्मैव कुरुते सृष्टिं महामायाप्रभावतः ॥२४॥

हे देव गण ! उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज, मनुष्य, पितृ, देवता और 'तत्वज्ञानोपदेशक ऋषियो की, इन सब प्रकार की सृष्टि को ब्रह्माजी ही महामाया के प्रभाव से करते हैं ॥२३-२४॥

इमे मन्मायया भ्रान्ताः सृष्टिचक्रे भ्रमन्त्यहो।
यूयं सर्वेऽपि मन्मायामोहिताः स्थ विशेषतः ॥२५॥

अहो ! मेरी मायासे भूले हुए ये सब सृष्टिचक्रमे घूमते रहते हैं। आप सब भी मेरी मायाले विशेष विमोहित हैं ॥२५॥

सृष्टिचक्रविवेकन्तु निबोधत समाहिताः ।
यमत्र सन्निधौ देवाः ! भवतां प्रब्रवीम्यहम् ॥ २६॥

हे देवतागण ! आपलोगोंके समीप जिस सृष्टिचक्रके विवेक को मैं यहाँ कहता हूँ उसको सावधान होकर समझो ॥२६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥२७॥
सहस्त्रयुग पर्यन्त ब्रह्मा का जो एक दिन उसको जो जानते हैं एवं सहस्त्रयुगान्ता जो रात्रि उसको जो जानते हैं, वह लोग अहोरात्रवेत्ता हैं ॥२७॥

अव्यक्ताद व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहगगमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ने तत्रैवाव्यत्तसंज्ञके ॥२८॥

ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में अव्यक्त से सब व्यक्त (चराचर प्राणिमात्र) प्रादुर्भूत होते हैं एवं ब्रह्मा की रात्रि के प्रारम्भ में उसी अव्यक्तस्वरूपमें ही लीन हो जाते हैं ॥२८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशो देवाः ! प्रभवत्यहरागमे ॥२९॥

हे देवगण ! वही व्यक्त सचराचर सब प्राणिवर्ग बारम्बार जन्म ग्रहण करके रात्रि के समागम होने पर लीन होते हैं एवं दिन के प्रारम्भ में अपने अपने कर्मादि के वश होकर उत्पन होते हैं ॥२९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तो व्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्स्वपि न नश्यति ॥३०॥

किन्तु उस व्यक्तभाव से भी श्रेष्ठ अतीन्द्रिय अनादि जो एकभाव है वह सकल प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है ॥३०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
ये प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ३१॥

जो अव्यक्त अर्थात् अतीन्द्रिय भाव अक्षर कहा गया है उसको परम गति अर्थात् परमपुरुषार्थ कहते हैं, जिसको प्राप्त होकर पुनः प्रत्यावर्तित होना नहीं होता है वह मेरा ही परमधाम है।॥३१॥

पुरुषः स परो देवो भक्तया लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥३२॥

हे देव गण! जिसमें भूतगण (प्राणिमात्र) स्थित हैं एवं जो इस सकल जगत् में व्याप्त है वह परमपुरुष एकान्तभक्ति द्वारा ही प्राप्य है ॥३२॥

न च मत्स्थानि भूतानि दृश्यतां योग ऐश्वरः।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ३३ ॥

मेरे ऐश्वरीय योग को देखो, सकलप्राणी मुझ में अवस्थित होकर भी अवस्थित नहीं हैं अर्थात् मैं उनसे निर्लिप्त हूँ, मैं भूतधारक और भूतपालक हूँ तथापि भूतगणमें मैं अवस्थित नहीं हूँ ॥३३॥

यथाकाशस्थिनो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीन्युपधार्यताम् ॥ ३४॥

सर्व व्यापी और महान वायु जिस प्रकार आकाश में नित्य स्थित सकल भूत भी वैसही मुझमें अवस्थित हैं ऐसा समझो ॥३४॥

सर्वभूतानि गीर्वाणाः ! प्रकृति यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥३५॥

हे देवगण ! प्रलयकालमें सब भूतगण मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं एवं पुनः सृष्टि के प्रारम्भमें मैं उनको उत्पन्न करता हूँ ॥ ३५ ॥

प्रकृति स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥३६ ॥

मैं अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठान करके स्वभाववश हाकर कर्मादि परवश इन समस्त भूतगणकी पुनः पुनः सृष्टि करता रहता हूँ ॥३६॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति दिवौकसः ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥३७॥

हे देवगण ! उन सब कर्मों में अनासक्त और उदासीनवत् अवस्थित मुझको वह सब कर्म बाँध नहीं सकते हैं ॥३७॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम ।
हेतुनाऽनेन वै देवाः ! जगद्विपरिवर्त्तते ॥३८॥

मेरे अधिष्ठान से प्रकृति चराचर सहित विश्व को उत्पन्न करती है हे देवगण ! इस कारण जगत् बारम्बार उत्पन्न होता है ॥३८॥

न मे विदर्भवन्तो हि प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिहि वो देवाः ! महीणाञ्च सर्वशः ॥ ३९॥

मेरा प्रभव (आविर्भाव) तुमको अवगत नहीं है महर्षिगण को भी अवगत नहीं है क्योंकि मैं हे देवगण ! तुमलोगों का और महर्षिगण का सर्व प्रकार से आदि हूँ ॥३९॥

यो मामजमनादिश्च वेति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स सर्वत्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४० ॥

जो मुझको अनादि, जन्मरहित, और सकल लोकों का महान् ईश्वर जानता है वह सब जगह मोहरहित होकर सकल पापों से मुक्त हो जाता है ॥४०॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानला जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥४१ ॥

भृगु श्रादि सात महर्षि और उनके पूर्ववर्ती सनकादि चार महर्षि तथा स्वायंभुवादि चौदह मनु ये सभी मेरे प्रभाव से युक्त हैं एवं मेरे हिरण्य गर्भ रूप के सङ्कल्पमात्र से ही उत्पन्न हैं, समस्त संसार के सभी जीव उन्हीं की सृष्टि की हुई प्रजा है॥४१॥

एतां विभूति योगश्च मम यो वेत्ति नत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥४२॥

जो तत्त्वज्ञानके द्वारा मेरी उक्त विभूति एवं योगको जानता है वह अचल समाधि मे युक्त होता है इसमें सन्देह नहीं ॥४२॥

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःख भवोऽभावो भयञ्चाभयमेव च ॥४३॥

अहिंसा समता तुष्टिः स्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथविधाः ॥४४॥

बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव (उद्भव), अभव (नाश) भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अयश, प्राणियोंके ये सब नाना प्रकारके भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं ॥४३-४४॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व प्रवर्तते।
इति मन्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥४५॥

मैं सकल जगत की उत्पत्ति का हेतु हूँ और मुझसे ही सब जगत् प्रवृत्ति को प्राप्त करता है यह जानकर विवेकी गण मेरे भाव को प्राप्त होकर मेरा भजन करते हैं ॥४५॥

देवा ऊचुः ॥४६॥

देवतागण बोले ॥ ४६॥

अनादिदेव ! सृष्टीनां कर्तः ! पालक ! हारक! ।
प्रभो ! विश्वनियन्तनः कृपया कथयाऽधुना ॥ ४७ ॥

इयं सृष्टिः किमाधारा तथाऽस्याः को नियामकः ।
आलम्ब्य कमिमे जीवाः परिणाममयीमिमाम् ॥४८॥

सृष्टिं जयन्तो वहन्ति प्राप्तुं त्वां मोक्षदायिनं ।
ज्ञानानन्दपदं नित्यं भक्ताभीष्टफलप्रदम् ॥ ४९ ॥

हे विश्वनियन्ता ! हे सृष्टिके कर्त्ता पालक और संहारक प्रभो ! अब कृपा करके यह बताइये कि यह सृष्टि किस आधार पर स्थित है और सृष्टि का नियामक कौन है और किसको अवलम्बन करके इस परिणाममय सृष्टि को जय करते हुए जीव, ज्ञानानन्दप्रद नित्य भक्ताभीष्ट फल प्रद और मोक्ष दायी आपको प्राप्त कर सकते हैं । ॥ ४७-४९॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ५० ॥

महाविष्णु बोले ॥ ५० ॥

धर्ममाधारा स्थिता सृष्टिः स एवास्या नियामकः ।
केवलं धर्ममेवैकमाश्रित्य जीवजातयः॥५१॥

अग्रेसरा भवन्तीमा मां प्रत्येव न संशयः।
ममानुशासनं धर्म इति तत्त्वविदो विदुः ॥५२॥

सृष्टि धर्मके आधारपर स्थित है, सृष्टिका नियामक धर्म ही है और एकमात्र धर्मको ही अवलम्बन करके ये जीवगण मेरी ओर ही अग्रसर

होते हैं इसमें सन्देह नहीं है। मेरा अनुशासन धर्म है ऐसा तत्त्वज्ञ समझते हैं ॥५१-५२॥

जगन्नियामिका शक्तिर्धर्मरूपाऽस्ति या मम ।
तया ह्यनन्तब्रह्माण्डान्यनन्ता लोकराशयः ॥५३॥

ऋषयः पितरो यूयं स्वस्वस्थान स्थिताः सदा ।
रक्षन्ति सृश्तिखिलामिति जानीत सत्तमा: ! ॥५४॥

मेरी जगन्नियामिका शक्तिरूप धर्म से अनन्त ब्रह्माण्डसमूह, अनन्त लोकसमूह और ऋषि देवता पितृगण अपने अपने स्थान पर सदा स्थित रहकर सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा करते हैं, हे श्रेष्ठ देवगण ! इसको जानो॥५३-५४॥

धर्मे धारणरूपा या शक्तिरस्ति दिवौकसः।
तयैव स्वस्वकक्षायामिमे सर्वे स्थिताः सदा ॥५५॥

ग्रहनक्षत्रप्रमुखा लोका ब्रह्माण्डकानि च ।
तयैव पितरो यूयमृषयश्च तथाऽसुराः ॥५६॥

रक्षन्तः पदमर्यादा स्वीयां लोकानवन्त्यलम् ।
यदा स्वधर्माच्च्यवथ विप्लबो जायते तदा ॥५७॥

हे देवगण ! मेरी धर्म की धारिका शक्ति द्वारा ही समस्त ब्रह्माण्ड और सभी ग्रह नक्षत्र आदि लोकसमूह अपनी अपनी कक्षा में सदा स्थित रहते हैं और उसी के द्वारा ऋषि, पितृ, आपलोग और अनुरगण भी अपनी अपनी पद मर्यादा की रक्षा करते हुए संसार की रक्षा में

भलीभांति प्रवृत्त रहते हैं। आपलोग जब स्वधर्म से च्युत होते हो तभी जगत में विप्लव उपस्थित होता है ॥५५-५७॥

अत्यन्तं येन लोकेषु नित्यं सीदन्ति प्राणिनः ।
अनन्तकोटिब्रह्माण्डयुक्तदृष्टिप्रवाहकः ॥५८॥

मतिस्थत: केवलं धर्ममेवैकमवलम्ब्य हि ।
वर्तते धर्म एवातो विश्वधारक ईरितः ॥५९॥

जिससे लोकों में प्राणिमात्र नित्य अत्यन्त क्लेश पाते हैं, मुझमें स्थित अनन्तकोटि ब्रह्माण्डयुक्त सृष्टिप्रवाह एकमात्र धर्म को अवलम्बन करके ही स्थित है इसी कारण धर्म विश्वधारक कहा गया है। ॥ ५८-५९॥

अनन्ता ये ग्रहाः सर्व्ये तथोपग्रहराशयः ।
ब्रह्माण्डशब्दनिर्बाच्यास्तथैवामरपुङ्गवाः !॥६०॥

नानावैचित्र्यसंयुक्ता उद्भिज्जस्वेदजाण्डजाः ।
जरायुजा इमे नूनं भूतसङ्घाः समीरिनाः ॥६१॥

सर्वानेतान्वीनिर्देष्टे नियमे परिचाल्यन ।
एक एवाऽस्ति धर्मोऽतो जगतां स नियामकः ॥६२॥

हे देवश्रेष्ठ गण ! अनंत ग्रह उपग्रह्मय ब्रह्माण्ड और अनन्त विचित्रतापूर्ण उद्भिज, स्वदेज, अंडज और जरायुजरुपी चतुर्विध भूतसंघ, इन सबको निर्दिष्ट नियम पर चलने वाला एकमात्र धर्म है इस कारण धर्म को जगन्नियंता कहते हैं । ॥६०-६२॥

प्रकृतेर्मे वशं याता मूढा जीवगणा हि ये।
क्रमशो मां समायान्ति निश्चितं विबुधोत्तमा: ॥६३ ॥

हे देवश्रेष्ठगण ! मेरी प्रकृति के अधीन रहकर मूढ़ जीवगण क्रमशः मुझको निश्चित ही प्राप्त होते हैं ॥६३॥

विशिष्टचेतना जीवस्तद्वनमेव चाऽऽश्रिता: ।
मां प्रत्यग्रेसराः सन्तो मामेवायान्ति चै क्रमात् ॥६४॥

और उसी प्रकारसे मुझे ही आश्रय करके विशिष्ट चेतन जीवगण क्रमशः मेरी ओर अग्रसर होते हुए मुझको ही प्राप्त करते हैं। ॥६४॥

अतः कर्म द्विधा मुख्यं सहजं जैवमेव च ।
तस्मात् कर्मविदो धीरा धर्म कर्मेति सजगुः ॥६५॥

इसी कारण कर्म सहज और जैव रूपसे प्रधानतः दो प्रकार का कहलाता है। कर्म के जाननेवाले महापुरुषगण इसी से धर्म को कर्म नामसे अभिहित करते हैं। ॥६५॥

एवं यज्ञस्तथा धर्म उभौ पर्यायवाचकौ ।
कथितौ वेद्रिष्णतै: शस्त्रज्ञै: शास्त्रविस्तरे ॥६६॥

इसी प्रकार यज्ञ और धर्म दोनों को पर्यायवाची शब्द हैं, इस बात को वेदनिष्णात शास्त्रों ने शास्त्र विस्तार में कहा है । ॥६६॥

सहयज्ञाः मजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन जीवा राध्यन्तामसावस्त्विष्टकामधुक् ॥ ६७॥

सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञक साथ ही साथ प्रजाओं को उत्पन्न करके प्रजापतिने कहा, " इससे जीवगण आराधना करें, यह उनलोगोंका अभीष्ट प्रदानकारी हो"। ॥६७॥

भावयन्तु हि वोऽनेन भवन्तो भावयन्तु तान् ।
परस्परम भावयन्त: श्रेयो देवा: ! अवाप्स्यथ ॥६८॥

हे देवगण ! जीवगण इसके द्वारा आपलोगों को सम्बर्द्धित करें और आपलोग उनको सम्वर्द्धित करें इसी प्रकार परस्पर सम्बर्द्धित होकर सभी कल्याण प्राप्त करेंगे । ॥६८॥

इष्टान भोगान् भवन्तो हि दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
अदत्त्वा वो भवहत्तान् यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥६९॥
आपलोग यज्ञ से सम्वर्द्धित होकर उनको अभीलाषित भोग प्रदान करेंगे इसलिए आपके दिए भोगों को आपलोगों के अर्पण किए बिना ही जो भोगता है वह चोर ही है ॥६९॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषः।
भुजते ते त्वधं पापा ये पचन्सात्मकारणात् ॥७०॥

यज्ञ का अवशिष्ट भोजन करने वाले सज्जनगण सब पापों से मुक्त हो जाते हैं किन्तु जो अपने ही लिये भोजन बनाते हैं वे पापिगण पापको ही भोजन करते हैं ॥७०॥

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।

यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥७१॥

जीव समूह अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि होने से उत्पन्न होता है और यज्ञ से वृष्टि होती है एवं यज्ञ कर्म द्वारा सम्पन्न होता है। ॥७१॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं वित्त ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम ॥७२॥

कर्म को ब्रह्म (वेद) द्वारा उत्पन्न समझो और ब्रह्म (वेद) अक्षर (ब्रह्म) से उत्पन्न है इसलिये सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित है । ॥७२॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं देवाः ! स जीवति ॥७३॥

इस लोक में जो इस प्रकार प्रवर्तित चक्र का अनुसरण नहीं करता है, हे देवगण ! इंद्रियासक्त पापजीवन वह व्यक्ति व्यर्थ जीता है । ॥७३॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिन: पर्ययृपास्ते।
ब्रह्माग्नादपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥७४॥

कितने योगिगण देवयज्ञ की ही उपासना करते हैं, कोई कोई यज्ञरूप उपाय द्वारा ब्रह्मरूपी अग्निमें यज्ञको सम्पन्न करते हैं ॥ ७४॥

श्रोतादीनीन्द्रियाष्यन्ते संयमाग्निषु जुह्वति ॥
शब्ददीन विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥७५॥

और कोई योगी संयमरूपी अग्नि में अपनी श्रवण आदि इन्द्रियों का हवन करते हैं और कितने योगिगण इन्द्रियरूपी अग्नि में शब्द आदि विषयों को हवन करते हैं ॥७५॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥७६॥

कितने योगिगण ज्ञान के द्वारा प्रज्वालित आत्मसंयमरूप योगाग्नि में सम्पूर्ण इन्द्रियकर्म और प्राणकर्मों का हवन करते हैं ॥७६॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥७७॥

कोई कोई द्रव्यदानरूपी यज्ञ, कोई तपोयज्ञ और कोई योगयज्ञ के अनुष्ठाता है तथा नियम में दृढ़ रहने वाले यतिगण स्वाध्याय और ब्रह्मज्ञानरूपी यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। ॥७७॥

आपने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥७८॥

अन्य कोई कोई अपान में प्राण और प्राण में अपानका हवन करते हैं और इस प्रकार से प्राण अपान की गति को जय करके प्राणायाम परायण हो जाते हैं ॥७८॥

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥७९॥

यज्ञशिष्टामृतमुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यस्त्रिदिवौकसः ! ॥८०॥

अन्य कोई कोई नियताहारी होकर प्राण में प्राण को हवन करते हैं। यज्ञ के द्वारा निष्पाप, यज्ञ का अवशिष्ट अमृत भोजन करनेवाले सभी यज्ञवेत्ता सनातन ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं। हे देवतागण ! जो लोग यज्ञानुष्ठान से रहित हैं न उनका इहलोक है और न उनका परलोक ही है ॥७२-८०॥

एवं बहुविधा यज्ञा विताता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान वित्त तान् सनिवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यते ॥८१॥

ब्रह्मके जाननेवालों के मुख से इसप्रकार से बहुप्रकार के यज्ञो का विस्तार हुआ है उन सबको कर्म से उत्पन्न जानो, ऐसा जानकर तुम मुक्ति को प्राप्त होगे ॥८१॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद यज्ञान ज्ञानयज्ञोऽमृतान्धसः ।
सर्व कर्माग्विलं देवाः ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥८२॥

हे अमृतभोजी देवतागण ! द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञान में ही सब कर्मों की पूर्णरूप से परि समाप्ति हुआ करती है ॥८२॥

अश्रद्दधाना जीवा वै धर्मस्यास्य सुधाशनाः !।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवमनि ॥८३ ॥

हे सुधा के पान करनेवाले देवतागण ! इस धर्म में अश्रद्धा करने वाले जीवगण मुझको न प्राप्त करके मृत्युमय संसारमार्गमें लौट आते हैं ॥८३॥

त्रविद्या मां सोमपाः पृतपापा: यज्ञैरिष्टा स्वर्गतिं प्रार्थयनते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक पश्नन्ति दिव्यान दिवि देवभोगान ॥८४॥

वेदत्रय के अनुसार कर्मकाण्डपरायण श्रर्थात् सकामकर्मीगण यज्ञ द्वारा मेरा यजन करके यज्ञ शेषरूपी सोमपान करते हुए और निष्पाप होते हुए स्वर्गगति की प्रार्थना करते हैं, वे लोग पुण्यस्वरूप इन्द्रलोकम पहुंच कर वहां दिव्य देवभोगसमूह भोग करते हैं। ॥८४॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुभपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥८५॥

वे उन विपुल स्वर्ग सुख समूहको भोग करने के अनन्तर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में लौट आते हैं और वेदत्रयविहित धर्मों को अवलम्बन करके भोग की इच्छा करते हुए आवागमन चक्र में आया जाया करते हैं ॥८५॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवान्त ते ॥८६॥

मैं ही सभी यज्ञो का भोक्ता और प्रभु हूँ परन्तु वे लोग मेरे यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते हैं इस कारण उनकी पुनरावृत्ति होती है। ॥८६॥

सम्पत्तिमासुरी प्राहुग्धर्मस्य विवर्द्धिनीम्।
धर्मप्रवर्द्धिनी देवी सम्पत्तिं तद्वदेव हि ॥८७॥

तस्मात्सोव्वौर्हि युष्माभिर्देवैः श्रेयोऽभिकाङ्क्षिभिः।
कर्तव्य आश्रयो दैव्याः सम्पत्तेरेव सर्वदा ॥८८॥

आसुरी सम्पत्ति को अधर्म वर्द्धिनी कहते हैं और उसी प्रकार दैवी सम्पत्तिको धर्मवर्द्धिका कहते हैं इस कारण सर्वदा कल्याण चाहनेवाले आप सबको दैवी सम्पत्ति का ही आश्रय लेना उचित है ॥८७-८८॥

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥८९॥

अहिंसा सत्यम क्रोधस्त्याग: शांतिरपैशुनम ।
दया भूतेप्वलोलुप्त्वं मार्द्दवं ह्रीरचापलम ॥९०॥

तेज: क्षमा धृति: शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीयभिजातस्य निर्जराः! ॥९१ ॥

हे देवतागण ! भयशून्यता, चित्त की प्रसन्नता, आत्मज्ञान के उपायों में निष्ठा, दान, इन्द्रिय संयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध का न होना, त्याग, शान्ति, खलता का त्याग, सब प्राणियों पर दया, लोभ का त्याग, अहंकार का त्याग ही अर्थात् पापकर्म से लज्जा, चपलता का त्याग, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, शौच, द्रोह का त्याग और अपने पूज्य होने के अभिमान का अभाव, यह सभी धर्मवृत्तियाँ दैवी संपत्ति वाले व्यक्तियों मे हुआ करती है ॥८९-९१॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानञ्चाभिजातस्य देवाः ! सम्पदमासुरीम् ॥ ९२ ॥

हे देवगण ! दम्भ, दर्प, अहङ्कार, क्रोध, निष्ठुरता, अविवेक, ये सब पाप सम्बन्धीय वृत्तियां बासुरी सम्पत्ति वाले व्यक्तियों में हुआ करती हैं ॥९२॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
नैव शोचत भो देवाः ! दैवी सम्पदमास्थिताः ॥ ९३ ॥

देवी सम्पत्तियां मोक्ष का कारण होती हैं और आसुरी सम्पत्तियां बन्धन का कारण हुआ करती है। इस कारण हे देवतागण ! आपलोग चिन्ता ही न करो क्योंकि आपलोग देवी सम्पत्ति में स्थित हो ॥९३॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
देवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं शृणुतामराः ॥९४॥

हे अमरगण ! इस संसार के प्राणियों में देवीभाव और आसुरीभाव रूप से दो प्रकार की सृष्टि है। इनमे से दैवी भाव का विस्तारित विवरण कहा गया है अब आसुरी भाव का विवरण मुझसे सुनो ॥९४॥

प्रत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥९५॥

आसुरी प्रकृत्ति वाले व्यक्तिगण प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को नहीं जानते हैं इस कारण उनमें न शौच है न आचार है और न सत्य है। ॥९५॥

असत्यमप्रतिष्ठञ्च जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत कामहैतुकम ॥९६॥

वे असुरमावापन्न लोग कहते हैं कि यह जगत् असत्य है,धर्म अधर्म व्यवस्थाशून्य अप्रतिष्ठ है, ईश्वर शून्य है, विनापरम्परा सम्बन्ध के यही अचानक उत्पन्न हुआ है, इसका और कुछ भी कारण नहीं है केवल स्त्री पुरुष के काम से उत्पन्न हैं ॥९६॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९७॥

यह सब अल्पबुद्धि असुरगण ऐसे विचारोंको प्राश्रय करके मलिनचित्त उग्रकर्मा और अहितकारी होकर जगत के नाश के लिये उत्पन्न होते हैं ॥९७॥

कामाश्रित दुष्पूरं दम्भमानम्दान्विता: ।
मोहादगृहीत्वा सद्ग्राहान प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रता: ॥९८॥

वे लोग पूर्ण नहीं होनेवाली कामनाओंको आश्रय लेकर, दम्भ अभिमान और गर्व से युक्त होकर, मोह से दुराग्रहों को धारण करने अपवित्र व्रतों को करते हुए अकार्यों मे प्रवृत हुआ करते हैं ॥९८॥

चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥९९॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थ संचयान ॥१००॥

मरणकाल पर्यन्त व्यापिनी अपरिमित चिन्ता को आश्रय करते हुए कामभोग परायण होकर "यह कामभोग ही परमपुरुषार्थ है" ऐसा निश्चय करते हुए सैकड़ों आशारूपी पाशों में बंधकर और काम क्रोध परायण होते हुए, वह लोग कामभोग के लिये अन्यायपूर्वक अर्थ संचय की इच्छा करते हैं ॥९९-१००॥

इदमद्य माया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम ॥ १०१ ॥

असौ मया इतः शत्रुहनिध्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् मुखी ॥१०२॥

आढयोऽभिजनवानसमि कोऽन्योऽस्ति सद्रश्यो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१०३॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजाल समावृता
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १०४॥

आज मुझे यह लाभ हुआ, यह मनोरथ प्राप्त होगा, मेरा यह धन है, और यह धन भी मेरा होगा, मेरे द्वारा इस शत्रु का नाश हुआ है, और शत्रुओ का भी नाश करूंगा, मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं धनवान् हूँ, मैं कुलीन हूँ, मेरे समान और कौन है, मैं यज्ञ करूंगा, मैं दान करूंगा, मैं हर्षको प्राप्त होऊंगा इस प्रकारसे वे अज्ञानसे विमोहित व्यक्तिगण अनेक विषयों में अपने चित्तको फसाये हुए विक्षिप्त रहते हैं और मोहमय जालसे श्रावृत

होकर और कामभोगमें आसक्त होकर अपवित्र नरकमें पड़ते हैं ॥ १०१-१०४॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१०५॥

अपने आप को ही बड़े और पूज्य मानते हुए, अविनयी, धनादिक के अभिमान से अभिमानित और गर्वित होकर वह दम्भ के साथ नाममात्र के यज्ञो द्वारा अविधिपूर्वक यजन किया करते हैं ॥१०५॥

अहंकारं बलं दर्प काम क्रोधञ्च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥१०६॥

अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोध का अवलम्बन करते हुए अपने देह में और औरों के देह में रहनेवाला जो मैं हूँ उससे द्वेष करते हुए सच्चे पथ के चलनेवाले साधु लोगों के गुणों की निन्दा किया करते हैं ॥१०६॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारे प्राणिनोऽधमान् ।
क्षिपाभ्यजत्रमशुभानामुरीष्वेव योनिषु ॥१०७॥

मैं संसार में मेरी हिंसा करनेवाले इन सब क्रूर अधम अशुभ व्यक्तियों को आसुरी योनियों में ही निरन्तर गिराया करता हूँ ॥१०७॥

आसुरी योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव गीर्वाणास्ततो यान्त्यधमाँ गतिम् ॥१०८॥

हे देवतागण ! वह मूढ़गण जन्म जन्म में आसुरी योनि प्राप्त करके मुझे प्राप्त न होकर और भी अधमगति को प्राप्त होते हैं ॥१०८॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥१०९॥

काम, क्रोध और लोभ, नरक यह तीन प्रकार के द्वार हैं, यह तीनों आत्मज्ञान के नाशक हैं इस कारण इन तीनों को त्याग कर देना चाहिये ॥१०९॥

एतैर्विमुक्तो जीवस्तु तमोद्वारैस्त्रिभिः खलु ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥११०॥

नरक के द्वाररूपी इन तीनो से ही विमुक्त जीव अपना मङ्गल करनेवाला आचरण करता है और तदन्तर परमगतिरूपी मोक्ष को प्राप्त करता है। ॥११०॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥१११॥

जो व्यक्ति शास्त्रविधि को त्याग करके स्वेच्छानुकूल कार्य में प्रवृत्त होता है वह सिद्धि शान्ति और मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता ॥१११॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं वः कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हथ ॥११२॥

इस कारण इस विश्व में यह कार्य है और यह अकार्य है इसकी व्यवस्था करने में शास्त्र ही आपके लिये प्रमाण है । शास्त्र विधानोक्त कर्म को जानकर उसको कर सकते हो ॥११२॥

दैवीभावस्य रक्षायै आसुरीभावतो भयात् ।
मयैव वर्णधर्मस्य कृता सृष्टिर्दिवौकसः ॥११३॥

हे देव गण! आसुरी भाव के भय से दैवी भाव की रक्षा करने के लिये मैंने ही वणधर्म की सृष्टि की है ॥११३॥

प्रतिरोधको वर्णधर्माः सत्वविवर्द्धकः।
स्वधर्मरक्षकस्तदेवीसम्पत्प्रवर्तकः ॥११४॥

वर्णधर्म प्रवृत्तिरोधक सत्त्वगुण वर्द्धक स्वधर्मरक्षक और दैवीसम्पत्तिप्रवर्तक है ॥११४॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च सुधाभुजः !।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वाभावप्रभवैगुणै ॥११५॥

हे देवगण ! ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रगण के कर्मसमूह पूर्व जन्म के संस्कार से उत्पन्न गुण विशेषरूपसे विभक्त हैं ॥११५॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ११६ ॥

शम, दम, तपस्या,शौच,क्षमा,सरलता, ज्ञान विज्ञान और आस्तिकता, यह सब ब्राह्मण गण के स्वाभाविक कर्म हैं ॥११६॥

शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥११७॥

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध से नहीं भागना, दान और प्रभुता की शक्ति, यह सब क्षत्रिय जाति के स्वाभाविक कर्म हैं ॥११७॥

कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥११८॥

कृषि, पशुपालन और वाणिज्य, यह वैश्य जाति के स्वाभाविक कर्म हैं और परिचर्यात्मक कर्म शूद्रजाति का भी स्वाभाविक कर्म है ॥११८॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभतेऽखिलाः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं श्रूयतां विन्दते यथा ॥११९॥

अपने अपने कर्म में निष्ठावान् सभी व्यक्ति सिद्धि को प्राप्त करते हैं। स्वकर्म में निरत व्यक्ति जिस प्रकार से सिद्धि को प्राप्त करते हैं, वह सुनो ॥११९॥

यतः प्रतिभूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति साधकः ॥१२०॥

जिनसे जीवोंकी प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टा का उदय होता है और जो इस सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं, स्वकर्म के द्वारा साधक उनकी अर्चना करके सिद्धि प्राप्त करता है। ॥१२०॥

श्रेयान स्वधम्मो विगुणः परश्चान्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥१२१ ॥

अपना धर्म यदि सदोष भी हो तो वह पूर्णरूपसे अनुष्ठित परधर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योंकि स्वभाव से निश्चित कर्म को करता हुआ जीव पाप को प्राप्त नहीं होता है ॥१२१॥

सहज कर्म विबुधाः ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाटताः ॥१२२॥

हे देवतागण ! सदोष होने पर भी सहज अर्थात् खभाव से उत्पन्न कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार अग्नि को धूम ढककर रहता है उसी प्रकार सभी कर्म दोष से आवृत हैं। ॥१२२॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धि परमां सन्यासेनाधिगच्छति ॥१२३॥

सभी विषयों में अनासक्तबुद्धि, जितात्मा और इच्छारहित व्यक्ति सन्यास अर्थात् आसक्ति और कर्मफलके त्याग द्वारा परमोन्नत नैष्ककर्मय सिद्धि को प्राप्त करता है ॥१२३॥

विशिष्टचेतना जीवाः सुराः : त्रिगुणभेदतः ।
चतुर्वेवाऽधिकारेषु विभक्ताः सन्ति सर्वदा ॥ १२४ ॥

हे देवतागण ! त्रिगुणके भेद से विशिष्ट चेतन जीव सर्वदा चार ही अधिकारों में विभक्त हैं ॥१२४॥

राक्षसा असुरा: देवा: कृतविद्याश्च ते मता: ।
केवलं तम आश्रिय विपरीतं प्रकुर्वते ॥१२५॥

कर्म तानाक्षसानाहुर्गुणभेदविदो बुधाः ।
रजोद्वारेण ये जीवा इन्द्रियासक्तचेतमः ॥१२६॥

तम प्रधानं विषयवहुलं कर्म कुर्वते ।
असुरास्ते समाख्याता देवाञ्च्छृणुत देवताः ॥ १२७ ॥

रजःसाहाय्यमाश्रित्य कर्म सत्त्वप्रधानकम् ।
विषयाच्छन्नमतयः कुर्वते ते विचक्षणाः ॥ १२८ ॥

उन्हीं को राक्षस असुर देवता और कृतविद्य कहते है। केवल तमोगुणके आश्रित होकर जो विपरीत कर्म करते हैं उनको गुणभेद के जाननेवाले विद्वान लोग राक्षस कहते हैं। जो जीव इन्द्रियासक्त चित्त होकर
रजोगुण के द्वारा तमोन्मुख विषय बहुल कर्म करते हैं वह असुर हैं। देवाधिकार के जीवों का लक्षण सुनो, जो विषय वासना रखते हुए रजोगुण की सहायता से सत्वगुण उन्मुख कर्म में प्रवृत्त होते हैं वे विलक्षण व्यक्ति देवता कहलाते हैं ॥१२५-१२८॥

शुद्धसत्वे स्थिता ये स्युः कृतविद्या मतास्तु ते ।
अहं तु कृतविधेषु ह्यादर्शोऽस्मि सुरर्षभाः ॥१२९॥

यतो विद्या ममाधीना वर्तते सन्ततं ध्रुवम् ।
दृष्टिश्चेद् युष्मदीया मां प्रत्येव सततं भवेत् ॥ १३०॥

तदा वश्च्यवनं नैव भयं वा न भविष्यति ।
उन्नतिः क्रमशो नूनं युष्माकं च भविष्यति ॥ १३१ ॥

जो शुद्ध सत्त्वगुण में स्थित हैं चे कृतविद्य कहाते हैं। हे देवतागण ! मैं ही कृतविद्योका आदर्श हूँ क्योंकि विद्या सदा मेरे अधीन ही रहती है। हे देवतागण ! यदि आपलोगोंकी दृष्टि सदा मेरी ही ओर रहे तो आप लोगों का न पतन होगा और न आपको भय होगा और आप लोगोंकी क्रमशः उन्नति अवश्य होगी ॥१२९-१३१॥

इति श्रीविष्णु गीतासूप निषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रं
देवमहाविष्णुसंवादे सृष्टिसृष्टिधारकयोगवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्याय।

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योग शास्त्र में देव महाविष्णु सम्वादात्मक सृष्टिसृष्टिधारकयोगवर्णन नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्री विष्णवे नमः॥

॥ श्री विष्णु गीता ॥

अथ तृतियोऽध्याय : तृतीय अध्याय

गुणभावविज्ञानयोगवर्णनम्

देवा ऊचुः॥१॥

देवतागण बोले ॥१॥

देवादिदेव ! धर्माभिप्रवर्तक : महाप्रभो ।
लोकोत्तरगति तद्वद्रहस्यं परमाद्भुतम् ॥२॥

ज्ञात्वा धर्मस्य जाताः स्मः कृतकृत्या वयं विभो ! ।
जगद्गुरो ! चतुर्भेदा भेदतस्त्रिगुणस्य ये ॥३॥

विशिष्टचेतनापन्नजीवानां कथितास्त्वया।
त्रिगुणानां हि तेषां वै स्वरूपं गुणभेदतः ॥ ४ ॥

धर्मज्ञिनाञ्च सर्वेषामाचाराणां तथा प्रभो !।
वर्णयन्नः प्रधानानां भेदानुपदिशाखिलान् ॥५॥

येन द्रष्टुं वयं सर्वे भवन्तं शक्नुमः सदा।
भावातीतं गुणातीतमवाङ्मनसगोचरम ॥ ६ ॥

हे देवादिदेव ! हे धर्म के प्रवर्तक ! हे महाप्रभो ! हे विभो! धर्म की लोकोत्तर गति और परम अद्‌भुत रहस्य समझकर हमलोग कृत्यकृत्य हुए। हे जगद्‌गुरो ! त्रिगुण के भेद से आपने विशिष्ट चेतन जीवों के जो चार भेद वर्णन किये हैं, हे प्रभो ! उन्हीं त्रिगुणों का स्वरूप और त्रिगुणों के विचार से धर्म के सभी अङ्गों और प्रधान आचारों के सम्पूर्ण भेदों का वर्णन करते हुए हमको ऐसा उपदेश दें कि जिससे हम सब भावों से अतीत, गुणों से अतीत और मन वाणीसे अगोचर आपको हर समय देखने का सामर्थ्य प्राप्त कर सके ॥२-६॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ७॥

महाविष्णु बोले ॥ ७॥

लीनाऽव्यक्तदशायां में प्रकृतिमयि सर्वदा ।
तथा व्यक्तदशायां सा प्रकटीभूय सर्वतः ॥ ८॥

त्रिगुणानां तरङ्गेशु स्वभावाद्धि तरङ्गति ।
नैवात्र संशयः कोऽपि वर्तते विबुधर्षभाः ! ॥९॥

मेरी प्रकृति अव्यक्त दशामें मुझमें सर्वदा लीन रहती है और व्यक्त दशामें यह प्रकट होकर स्वभाव से ही त्रिगुण तरङ्गले सब ओर तरङ्गित होने लगती है। हे देवतागण ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है। ॥८-९॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति सुपर्वाणो देहे देहिनमव्ययम् ॥१०॥

हे देवतागण ! सत्व रज और तम ये तीन गुण प्रकृति से उत्पन्न होकर देहों में स्थित निर्विकार देही को आवद्ध किया करते हैं ॥१०॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बनाति ज्ञानसङ्गेन चानघाः ! ॥११॥

हे पाप रहितो! इन तीनों गुणों से निर्मल होने के कारण, प्रकाशक और दोषरहित सत्त्वगुण सुखासनि के द्वारा और ज्ञानसंग के द्वारा बद्ध करता है ॥११॥

रजो रागात्मकं वित्त तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबनाति भो देवाः ! कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥१२ ॥

हे देवतागण ! रजोगुण को रागात्मक, और तृष्णासक्ति से उत्पन्न जानना चाहिए, वह देही को कर्म आसक्ति द्वारा आबद्ध किया करता है। ॥१२॥

तमस्त्वज्ञानजं वित्त मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालास्यनिद्राभिस्तन्निबध्नन्ति निर्जरा ॥१३॥

हे देवतागण ! तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न और सब प्राणियों मे भ्रम उत्पन्न करनेवाला जानो, वह प्रमाद अनुद्दम धम और चित्तकी अवसन्नता द्वारा देही को आबद्ध करता है। ॥१३॥

सत्त्वं सूखे सञ्जयति रजः कणि चामराः।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ १४ ॥

हे देवतागण ! सत्त्वगुण जीवको सुख में आबद्ध करता है, रजोगुण कर्म में आबद्ध करता है और तमोगुण ज्ञान को आवरण कर के प्रमाद में आबद्ध करता है ॥१४॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं प्रभु भवसलम् ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१५॥

रज एवं तमोगुणको दबा करके. सत्त्वगुण बलवान होता है, सत्त्व एवं तमोगुण को परास्त करके रजोगुण प्रबल होता है और सत्त्व एवं रजोगुण को दबाकरके तमो गुण प्रबल होता है ॥१५॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत ॥१६॥

जब इस देह में श्रोत्रादि सब द्वारो में ज्ञानमय प्रकाश होता है तब सत्त्वगुण की विशेष वृद्धि हुई है ऐसा समझना चाहिये ॥१६॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे विबुधर्षभाः ! ॥ १७ ॥

हे देवतागण ! लोभ, प्रवृत्ति अर्थात् सर्वदा सकाम कर्म करने की इच्छा, कर्मों का आरम्भ अर्थात् उद्यम, अशम अर्थात् अशान्ति एवं

स्पृहा अर्थात् विषय तृष्णा, यह सब रजोगुण बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं ॥१७॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे सुरसत्तमाः ! ॥१८॥

हे देवश्रेष्ठो! विवेकभ्रंश, उद्यमहीनता, कर्तव्य के अनुसन्धान का न रहना और मिथ्या अभिमान यह सभी तमो गुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं ॥१८॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान प्रतिपद्यते ॥१९॥

यदि सत्वगुणके विशेषरूप से बढ़नेपर जीव मृत्युको प्राप्त हो तब वह ब्रह्मवेत्ताओ के प्रकाशमय लोकों को प्राप्त होता है अर्थात् उसकी उत्तम गति होती है ॥१९॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढ़योनिषु जायते ॥२०॥

रजोगुण की वृद्धि के समय मृत्यु होने पर कर्मासक्त मनुष्य लोकमें जन्म होता है एवं तमोगुण बढ़ने पर मृतव्यक्ति (पशु प्रेत आदि) मूढ़ योनियों में जन्म लेता है ॥२०॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥२१॥

सुकृत अर्थात् सात्त्विक कर्मका सात्त्विक और निर्मल फल है, राजसकर्मको फल दुःख और तामस कर्म का फल अज्ञान अर्थात् मूढ़ता है, ऐसा ज्ञानीलोग कहते हैं ॥२१॥

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥२२॥

सत्त्व से ज्ञानोत्पत्ति होती है, रज से लोभ उत्पन्न होता है और तमोगुण से प्रमाद अविवेक और अज्ञान उत्पन्न होता है ॥ २२॥

उर्दध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृतिस्था अघो गछन्ति तामसा: ॥२३॥

सत्त्वप्रधान व्यक्ति उर्द्ध्वलोक को जाते हैं, रजोगुण प्रधान व्यक्ति मध्यलोक में रहते हैं और निकृष्टगुणावलम्बी तामसिक व्यक्ति अधोलोक में जाते हैं ॥२३॥

नान्यं गणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥२४॥

जब ज्ञानी व्यक्ति गुण के अतिरिक्त और किसी को कर्त्ता करके नहीं देखता है और गुण से परे जो गुण का दर्शक आत्मा है उसको जानता है वह मुझको प्राप्त हो जाता है ॥२४॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुः रैविर्मुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२५॥

देह से उत्पन्न इन तीनों गुणों को अतिक्रमण करके जन्ममृत्युजरारूप दुःखों से मुक्त होकर देही परमानन्द को प्राप्त हो जाता है ॥२५॥

प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च निर्जराः !
न द्वष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२६॥

हे देवतागण ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (तीनों गुणों के यथाक्रम कार्य) से सब गुणकार्य प्रारम्भ होने पर जो व्यक्ति द्वेष नहीं करता है और इनके निवृत्त होने पर जो इनमें इच्छा नहीं रखता है वह गुणातीत कहलाता है ॥२६॥

उदासीनवदासीनो गुणैयों न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतियुति नेङ्गते ॥२७॥

जो उदासीन अर्थात् केवल साक्षीरूप से स्थित है और गुणों से जो विचलित नहीं होता है और गुणसमूह अपना अपना कार्य करते हैं ऐसा समझकर जो स्थिर रहता है और स्वयं चेष्टा नहीं करता है वह गुणातीत कहलाता है ॥२७॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यनियापियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२८॥

जिसको सुखदुःख समान हैं, जो आत्मा अवस्थित है, जिसके लिये मिटटी का ढेला पत्थर और सुवर्ण सब समान है, जिसके निकट प्रिय और अप्रिय दोनों समान हैं, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है और जिसके निकट निन्दा और स्तुति दोनों समान है वह गुणातीत कहलाता है ॥२८॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरिसागी गुणातीतः स उच्यते ॥२९॥

जो मान अपमान में समभाव रखता है, जो मित्र और शत्रु के विषय में समभाव रखता है और सब कर्मों के आरम्भ का त्याग करने वाला है अर्थात् जो नवीन कर्म नहीं करता वह गुणातीत कहलाता है ॥२९॥

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
म गुणान् समतीत्यैतान ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥३०॥

और जो एकान्त भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है वह इन गुणों को विशेष रूप से अतिक्रमण करके ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। ॥३०॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखम्यैकान्तिकस्य च ॥३१॥

क्योंकि मैं नित्यस्थित और मोक्ष स्वरूप ब्रह्म के प्रतिष्ठा (स्थिति) का स्थान हूँ, मैं ही सनातनधर्म और ऐकान्तिक सुखका स्थान हूँ ॥३३॥

धर्मस्य साम्प्रतं देवाः ! विशेषाणां ब्रवीम्यहम् ।
अङ्गानां त्रिविधं रूपं युष्माभिरवधार्यताम् ॥३२॥

हे देवतागण ! अब मैं धर्मके विशेष विशेष अङ्गों का त्रिविध स्वरूप वर्णन करता हूँ आपलोग ध्यानपूर्वक सुनिये ॥३२॥

यज्ञो दानं तपस्त्रीणि धाङ्गानि प्रधानतः ।
तेष यज्ञः प्रधानं स्यात्तस्य भेदास्त्रिधा मताः ॥३३॥

धर्म के प्रधान तीन अंग हैं, यज्ञ तप और दान। उनमें मुख्य अङ्ग जो यज्ञ है उसके तीन भेद हैं ॥३३॥

ज्ञानोपासनकर्माणि यदुक्तानि मनीषिभ: ।
सर्वशास्त्रेषु निष्णानस्तत्त्वज्ञानाब्धिपारगैः ॥ ३४ ॥

ज्ञान , कर्म और उपासना, इस बात को सर्वशास्त्रनिष्णात तत्त्वज्ञानी पण्डितों ने कहा है।॥३४॥

विशिष्टचेतनायुक्ता नराचा जीवजातयः।
स्वस्वाभाविकयोः सौख्यैश्वर्ययोस्त्यागतो ध्रुवम् ॥३५॥

अदृष्टशक्तिं परमां यां लभ्यन्ते सुरर्षभा:।
नमव यज्ञं संपाहुः सर्वे नत्त्वविवेचकाः ॥३६॥

हे देवतागण ! विशिष्टचेतन मनुष्य आदि जीवगण अपने स्वाभाविक सुख और ऐश्वर्य के त्याग द्वारा जो परम अदृश्य शक्ति अवश्य प्राप्त करते हैं उसी को तत्त्वविवेचक लोग यज्ञ कहते हैं। ॥३५-३६ ॥

एतेषामेव सर्वेषामङ्गानां क्रमशः सुराः।
शृणुदध्वं त्रिविधान भेदान् वाम्यहं गुणभेदतः ॥३७॥

हे देवतागण ! इन्हीं सब अङ्गों के त्रिविध भेदों को क्रमशः बतलाता है, आपलोग शांत चित्त होकर ध्यान से सुनिए ॥ ३७॥

दातव्यामिति यहानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तदानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥३८॥

"दान करना उचित है" इस विचारसे देश काल और पात्र की विवेचना करके प्रत्युपकार करने में असमर्थ व्यक्ति को जो दान किया जाता है वह सात्त्विक दान कहा गया है।॥ ३८॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थ फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥३९॥

किन्तु जो दान प्रत्युपकार के लिये अथवा फल की कामना करके कष्टपूर्वक दिया जाता है उस दान को राजस दान कहते हैं। ॥३६॥

अदेशकाले यदानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥४०॥

देश और काल की विवेचना न करके, सत्कारशून्य और तिरस्कारपूर्वक अपात्रों को जो दान दिया जाता है वह तामस दान कहलाता है ॥४०॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं सुराः।
अफलाकालिंक्षभिर्ययुक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥४१॥

हे देवगण ! आत्मा में अवस्थित व्यक्तियों के द्वारा परम श्रद्धापूर्वक और फल-कामना रहित होकर अनुष्ठित शारीरिक वाचनिक और मानसिक तप को सात्त्विक कहते हैं ॥४१॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥४२॥

संस्कार मान और पूजा के लिये एवं दम्भपूर्वक जो तपस्या की जाती है इस लोक में अनित्य और क्षणिक वह तपस्या राजस कही जाती है ॥४२॥

मूढग्राहेणात्मनो यत् पीड़या क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थम्वा तत्तामसमुदाहृतम ॥४३॥

अविवेक के वश होकर दूसरों के नाश के अर्थ वा आत्मपीड़ा के द्वारा जो तपस्या की जाती है उसको तामस कहते हैं ॥४३॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलपेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥४४॥

निष्काम व्यक्तियों के द्वारा नियमितरूप से विहित, आसक्तिशून्य और रागद्वेषरहित होकर जो कर्म किया जाता है उसे सात्त्विक कर्म कहते हैं ॥४४॥

यत्तु कामेपमुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते वहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥४५॥

फलाकांक्षी अथवा अहंकारयुक्त व्यक्तियों के द्वारा बहुत प्रयास से जो कर्म किया जाता है उसको राजस कहते हैं ॥४५॥

अनुबन्ध भयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥४६॥

परिणाम में बन्धन, नाश, हिंसा और सामर्थ्य इन सबकी उपेक्षा करके मोहवश जो कर्म प्रारम्भ किया जाता है उसको तामस कहते हैं ॥४६॥

मुक्तसङ्गोऽनहवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥४७॥

आसक्तिशून्य, "अहं" इस अभिमान से शून्य धैर्य और उत्साहयुक्त, सिद्धि और असिद्धि में विकारशून्य कर्ता सात्त्विक कहा जाता है ॥४७॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुलुब्धो हिमात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥४८॥

विषयानुरागी, कर्म फलाकांक्षी, लोभी, हिंसाशील, अशुचि, लाभा लाभ में आनन्द और विषादयुक्त कर्ता राजस कहा जाता है ॥४८॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥४९॥

इन्द्रियासक्त, विवेकहीन, उद्धत; शठ, निष्कृति-शून्य, आलस्य युक्त, विषाद युक्त और दीर्घसूत्री का तामस कहा जाता है॥४९॥

उपास्तेः प्राणरूपा या भक्तिः प्रोक्ता दिवौकसः !।
गुणत्रयानुसारेण सा त्रिधा वर्तते ननु ॥५०॥

हे देवगण ! उपासना की जो प्राणरूपा भक्ति कही गई है वह भक्ति तीन गुणों के अनुसार निश्चय तीन प्रकार की है ॥५०॥

आर्त्तनां तामसी सा स्याजिज्ञामूनाञ्च राजसी।
सात्त्विक्यार्थिनां ज्ञेया उत्तमा सोत्तरोत्तरा ॥५१॥

आर्तभक्तों की भक्ति तामसी, जिज्ञासु भक्तों की भक्ति राजसी और अर्थार्थी भक्तों की भक्ति सात्त्विकी जानना चाहिये। इन तीन प्रकार की भक्तियों मे उत्तरोतर श्रेष्ठ है ॥५१॥

भूतप्रेतपिशाचादीनासुरं भावमाश्रितान् ।
अर्चन्ति तामसा भक्ता नित्यं तद्भावभाविताः ॥५२॥

तामसिक भक्त आसुरीसंपत्ति युक्त भूत प्रेत पिशाचादि की उपासना तत्तद्भावों में भावित होकर नित्य करते हैं ॥५२॥

सकामा राजसा ये म्युः ऋषीन पितृश्च देवताः।
वह्वीदैवदेवीश्च मे शक्तीः पूजयन्तीह ते सदा ॥५३॥

सकाम राजसिक भक्त ऋषि देवता और पितर एवं मेरी बहुत सी दैवी शक्तियों की उपासना सदा करते हैं ॥५३॥

केवलं सात्त्विका ये स्युर्मद्भक्ताः साधका इह।
त एवं ज्ञात्वा मद्रूपं मम भक्तौ सदा रताः॥५४॥

इस संसार में केवल जो साधक मेरे सात्त्विक भक्त है वह ही मेरे रूप को जानकर सदा मेरी भक्ति में तत्पर रहते हैं ॥५४॥

पंचाना सगुणानां ते मद्रूपाणा स्माश्रयात ।
मद्ध्यानमग्नास्तिष्टन्ति निर्गुणं हाथवा मम ॥५५॥

सच्चिदानन्दभावं तं भावं परममाश्रिताः।
मम ध्यानाम्बुधौ मग्ना नन्दन्ति नितरां सुराः ! ॥५६॥

वह मेरे मेरे पांच सगुण रूपों के आश्रयसे मेरे ध्यान में मग्न रहते हैं अथवा मेरे निर्गण परमभावरूप उस सच्चिदानन्द भावका आश्रय करके मेरे ध्यानरूप समुद्र मे मग्न होकर हे देवगण! अंत्यंत आनंद उपभोग करते हैं ॥५५-५६॥

ज्ञानी भक्तस्तु भगवद्रूप एव मतो यतः।
गुणातीतस्य तस्यात्र न निवेशो विधीयते ॥५७॥

और चतुर्थ ज्ञानी भक्त तो भगवद्रूपही है क्योंकि वह गुणातीत है अतः उसका यहां विचार नहीं किया गया है ॥५७ ॥

श्रद्धावान् साधको यश्च भोगमैहिकमेव हि ।
विशेषतः समीहेत दम्भाहकारसंयुतः ॥५८॥

इष्टं वेदविधि हित्वा मदुपासनतत्परः ।

विज्ञेयो लक्षणादस्मात् तामसः स उपासकः ॥५९॥

जो श्रद्धावान् साधक ऐहलौकिक भोग की ही विशेषरूप से इच्छा करे, दम्भ और अहङ्कार से युक्त हो और उपयुक्त वेदविधि का त्याग करके मेरी उपासना में तत्पर हो, इन लक्षणों से उस उपासकको तामसिक उपासक जानना चाहिये ॥५८-५९॥

यः श्रद्धालुर्विशेषेण पारलौकिकमेव हि।
सुखमिच्छंस्तथा शीलगुणराशियुतो यदि ॥६०॥

वेदानुसारतः सक्तो मदुपास्तौ हि साधकः।
राजसः स हि विज्ञेय उपासक इति स्मृतिः ॥६१॥

जो श्रद्धालु साधक पारलौकिक सुख को ही विशेषरूप से चाहता हुआ यदि शीलगुणों से युक्त होकर वेदविधि के अनुसार मेरी उपासना में आसक्त रहता है तो उसको राजसिक उपासक जानना चाहिये, ऐसा स्मृतिकारों का मत है ॥६०-६१॥

सात्त्विक्या श्रद्धया युक्तो भाग्यवान विबुधर्षभाः ।
वितृष्णो लोकिकादागात्तद्वत्वै पारलौकिकात् ॥६२॥

साधकोऽनन्यया वृत्या ज्ञानतो निरतः सदा ।
मदुपास्तौ स विज्ञेयः सात्त्विकोपासको वरः॥६३॥

हे देवश्रेष्टों ! जो भाग्यवान् साधक सात्त्विकी श्रद्धा से युक्त होकर ऐहलौकिक और पारलौकिक भोगों की तृष्णा से रहित होता हुआ ज्ञानपूर्वक अनन्यवृत्ति से मेरी उपासनामें सदा तत्पर रहता है उसको श्रेष्ठ सात्त्विक उपासक जानना चाहिये ॥६२-६३॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेपु तज़्ज्ञानं वित्त सात्त्विकम् ॥६४॥

जिस ज्ञान के द्वारा विभक्त रूप सब भूतों में अविभक्त, एक और विकारहीन भाव ज्ञानी देखता है उस ज्ञान को सात्त्विक ज्ञान जानना चाहिए ॥६४॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृवविधान् ।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामममुदाहृतम् ॥६५॥
जो ज्ञान पृथक रूप से सभी प्राणियों मे पृथक पृथक अनेकों प्रकार के भाव जानता है उस ज्ञान को राजसिक ज्ञान जानना चाहिए ॥६५॥

यत्तु कृत्सनवदेकास्मिन कार्य सक्तमहैतुकम ।
अत्तार्वथवादाल्पन्च्य तत्तामसमुदाहृतं ॥६६॥

जो एक कार्य में परिपूर्णवत् आसक्त, हेतुशून्य, परमार्थरहित और अल्प अर्थात् तुच्छ ज्ञान है उसको तामस ज्ञान कहते है ॥ ६६ ॥
सूरा: ! श्रुनुध्वमधुना सम्बन्धत्रिगुणस्य ह ।
अन्यान्यपि रहस्यानि कानिचिद्वर्णयाम्यहम् ॥६७॥

हे देवगण! अब मैं त्रिगुणसम्बन्ध से सम्बंधित कुछ अन्य रहस्यों का कुछ वर्णन करता हूँ वह सुनिए ॥६७॥

सत्त्वावलम्बिनो यूयं शृण्वन्तो भवतादरात्।
सत्त्वं क्रमावर्द्धयदि स्त्रैगुण्ये च यत्यताम् ॥ ६८॥

और आप उसको आदरपूर्वक सुनते हुए सत्वगुण अवलंबी होइए और क्रमशः सत्वगुण की वृद्धि करते हुए
गुणातीत पद के लिये प्रयत्न करिये ॥६८॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥६९॥

फल आकांशा रहित व्यक्ति "यज्ञानुष्ठान अवश्य कर्तव्य कर्म है। ऐसा विचार कर और मन को शांत करके जिस विधि विहित यज्ञ को करते हैं उसको सात्त्विक कहते हैं ॥६९॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते विबुधश्रेष्ठाः ! तं यज्ञ वित्त राजसम् ॥७०॥

किन्तु हे देवश्रेष्ठो ! फल मिलनेके उद्देश्यसे अथवा केवल अपने महत्त्वके प्रकट करनेके अर्थ जो यज्ञ किया जाता है उस यज्ञ को राजस मानना चाहिए ॥७०॥

विधिहीनमसृष्टान्ने मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥७१॥

अन्नदानशून्य, मन्त्रहीन, दक्षिणाहीन और श्रद्धा रहित यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥७१॥

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा सात्त्विकी सुगः ॥७२॥

हे देवतागण ! प्रवृत्ति निवृत्ति, कार्य्य अकार्य, भय अभय और बन्ध मोक्ष जो जानती है वह सात्त्विकी बुद्धि है ॥ ७२॥

यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च ।
अयथावत प्रजानाति बुद्धिः सा राजसी मता ॥७३॥

जिसके द्वारा धर्म अधर्म और कार्य अकार्य यथावत् परिज्ञात न हो उसको राजसी बुद्धि कहते हैं ॥७३॥

अधर्म धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा तामसी मता ॥७४॥

जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है और सब विषयों को विपरीत मानती है उस तमोगुणाच्छन्न बुद्धि को तामसी बुद्धि कहते हैं ॥७॥

धृत्या यया धारयते मनःमाणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या देवाः ! सा सात्त्विकी धृतिः ॥७५॥

हे देवतागण ! योग के द्वारा विषयान्तर धारणा न करनेवाली जिस धृति से मन प्राण और इन्द्रियों की क्रिया धारण की जाती है अर्थात् नियमन होती है वह धृति सात्त्विकी धृति है। ॥७५॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽमराः।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा राजसी मता ॥७६॥

हे देवतागण ! जिस धृतिके द्वारा (जीव) धर्म अर्थ और कामको धारण करता है एवं प्रसङ्गवश फलाकांक्षी होता है उस धृति को राजसी कहते हैं ॥७६॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी सुराः । ॥ ७७ ॥

हे देवतागण ! विवेकहीन व्यक्ति जिसके द्वारा निद्रा, भय, शोक,विषाद और अहंकार का त्याग नहीं करता है वही तामसी धृति है ॥७७॥

स्मृति व्यतीत विषयां मतिमागामि गोचाराम
प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा विदुः ॥७८॥

अतीत विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली प्रज्ञा को स्मृति, आगामि विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रज्ञा को बुद्धि और नवीन ज्ञान विज्ञानों का उद्भव करने वाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं ॥७८॥

द्रष्टुर्दश्यस्योपलब्धौ क्षमा चत् प्रतिभा तदा।
सात्त्विकी सा समाख्याता सर्वलोकहिते रता ॥७९॥

जब द्रष्टा और दृश्य की उपलब्धि प्रतिभा समर्थ होती है तब सभी लोकों के हित में तत्पर वह प्रतिभा सात्त्विकी कही जाती है। ॥७९॥

यदा शिल्पकलायां सा पदार्थालोचन तथा।
प्रसरेदराजसी ज्ञेया तदा सा प्रतिभा बुधैः ॥८०॥

जब वह शिल्पकला और पदार्थीको आलोचना में प्रसारको प्राप्त होती है तब उस प्रतिभा को बुधगण राजसी प्रतिभा जानते हैं ॥८०॥

साधारणं लौकिकञ्चेत् सदसद्रिमृशेत्तदा ।
तामसी सा समाख्याता प्रत्युत्पन्नमतिश्च सा ॥ ८१ ॥

जब वह साधारण लौकिक सत् असत का विचार करे तो उसको तामसी प्रतिभा कहते हैं और उसको प्रत्युत्पन्नमति भी कहते हैं ॥८१॥

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिमकातिभेदतः।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी च बुभुत्सवः ! ॥८२॥

हे जिज्ञासुओं! प्राणियों की प्रकृति के अनुसार श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, सात्त्विकी राजसी और तामसी ॥८२॥

तासान्तु लक्षणं देवाः ! शृणुध्वं भक्तिभावतः ।
श्रद्धा सा सात्त्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलिका ॥८३॥

हे देवतागण ! अब उनके लक्षण भक्ति भाव से सुनो। जो विशुद्ध ज्ञान मूलक श्रद्धा है उसको सात्त्विकी जानो ॥८३॥

प्रवृतिमूलिका चैव जिज्ञासामूलिका परा।
विचारहीनसंस्कारमूलिका त्वन्तिमा मता ॥ ८४॥

प्रवृत्ति और जिज्ञासामूलक श्रद्धा राजसी है और विचारहीन संस्कारमूलक श्रद्धा तामसी कही गई है ॥८४॥

वेदेष्वथ पुराणेषु तन्त्रेऽपि श्रुतिसम्मते ।
भयानक रोचकं हि यथार्थमिति भेदतः ॥८५॥

वाक्यानि त्रिविधान्याहुस्तद्विदो मद्विभावकाः।
श्रूयतां दत्तचित्तैर्हि तत्राऽस्त्येवं व्यवस्थितिः ॥ ८६ ॥

वेद, पुराण और श्रुतिसम्मत तन्त्रों में भयानक रोचक और यथार्थ इन भेदों से तीन प्रकार के वाक्य मेरे भावों से भावित तत्त्ववेत्ताओ ने कहे हैं । इस विषय में निम्नलिखित प्रकार से ही व्यवस्था है सो चित्त लगाकर सुनिये ॥८५-८६ ॥

पपच्चाऽज्ञानसम्भूताद्विषयादभीतीकृद्धच:।
भयानकमिति प्राहुर्जानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥८७॥

पाप से और अज्ञानसम्भूत विषय से डर दिखाने वाले जो वचन हैं तत्त्वदर्शी ज्ञानिगण उनको भयानक कहते हैं ॥८७॥

मुकृतेऽध्यात्मलक्ष्ये च रूचिकृवचनं मुराः ।
रोचकं तद्धि विज्ञेयं श्रुतो तन्त्रपुराणयोः ॥८८॥

हे देवगण ! पुण्य में और अध्यात्म लक्ष्य में रुचि उत्पन्न करने वाले जो वचन वेद तन्त्र और पुराणों में हैं उनको रोचक जानना चाहिये। ॥८८॥

आध्यात्मतत्त्वसंलिष्ट तत्वज्ञानोपदेशकम ।
वचो यथार्थ सम्प्रोक्तं यूयं जानीत निर्जराः ! ॥८९॥

अध्यात्म तत्त्व से युक्त और तत्व ज्ञान का उपदेश देने वाले वचन को हे देवगण ! यथार्थ वचन कहते हैं ऐसा आप जानिये ॥८९॥

भयानकं वचो नित्यं तामसायाधिकारिणे।
रोचकं राजसायैव यथार्थ सात्त्विकाय वै ॥९०॥

विशेषतो हितकर विज्ञेयं विबुधोत्तमाः।
अतोऽधिकारभेदेन वचनं व्याहृतं मुराः ॥९१॥

हे विभुत्तमो! भयानक वचन सदा ही तामसिक अधिकारी के लिये, रोचक वचन राजसिक अधिकारी के ही लिये और यथार्थ वचन सात्त्विक अधिकारी के लिये ही विशेषरूप से हितकर हैं ऐसा जानना चाहिये, इसलिये हे देवतागण ! शास्त्रोंमें अधिकारभेद से वचन कहेगये हैं ॥९०-९१॥

श्रुतौ पुराणे तन्त्रे च त्रिधा वर्णनरीतयः।
दृश्यन्ते क्रमशः सर्वास्ता वच्मि भवतां पुरः ॥९२॥

वेद पुराण और तंत्रों में तीन प्रकारको वर्णन शैलियां देखी जाती हैं उन सबोंको आप लोगों के सामने मैं क्रमश कहता हूँ ॥९२॥

समाधिभाषा प्रथमा लौकिकी च तथाऽपरा ।
तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधा स्मृता ॥९३॥

पहली समाधिभाषा, दूसरी लौकिकभाषा और तीसरी परकीयभाषा, इस प्रकार से शास्त्र की भाषा तीन प्रकार की कही गई है। ॥९३॥

इतिहासमयी शश्वत्कर्णयोर्मधुगऽमला।

मनोमुग्धकरी तद्वच्चित्ताहलादविवर्धिनी ॥९४॥

धर्मसिद्धांत संयुक्ता समासबहुला न हि ।
ज्ञेया सा परकीयेति शास्त्रवर्णनपद्धतिः ॥९५॥

जिसमें निरन्तर इतिहास आए, जो निर्मल और श्रुतिमधुर हो, जो मन को लुभाने वाली और इसी तरह चित्त के आह्लाद को बढ़ानेवाली हो, जो धर्म सिद्धान्तों से युक्त हो और जिसमें जटिलता न हो उस शास्त्रवर्णन की पद्धति को परकीय जानना चाहिये ॥९४-९५ ॥

इमामज्ञानिने तद्वत्तामसायाऽधिकारिणे।
विशेषतो हितकरी प्राहुस्तत्तत्त्वदर्शिनः ॥९६॥

इस पद्धतिके तत्त्वदर्शीगण इसको अज्ञानी के लिये और इसी तरह तामसिक अधिकारी के लिये विशेष हितकरी कहते हैं ॥९६॥

अतीन्द्रियाध्यात्मराज्यस्थितं विषयगह्वरम्।
लौकिकी रीतिमाश्रित्य वर्णयेद् याऽतिसंस्फुटम् ॥९७॥

नथा समाधिगम्यानां भावानां प्रतिपादिका ।
सा पूर्णा लौकिकैस्तद्वद्रसैर्भापाऽस्ति लौकिकी ॥९८॥

अतीन्द्रिय अध्यात्म राज्य में स्थित गूढ़ विषय को लौकिक रीति का आश्रय लेकर जो अच्छी तरह वर्णन करे तथा समाधिगम्य भावों की प्रतिपादि का हो और इसी तरह लौकिक रसों से भी पूर्ण हो वह भाषा लौकिकी भाषा है॥९७-९८॥

इयं राजसिकायैव साधकायाधिकारिणे ।
सूतेऽधिकं सदा भव्यं सत्यं सत्यं दिवौकसः ! ॥९९॥

हे देवतागण ! यह भाषा राजसिक अधिकार वाले ही साधक के लिये सदा अधिक कल्याण पैदा करती है, यह सत्य है सत्य है । ॥९९॥

प्रकाशयति या ज्ञानं कार्यकारणब्रह्मणोः।
समाधिसिद्धभावैर्या सम्पूर्णा सर्वतस्तथा ॥१००॥

तत्वज्ञानमयी तद्वद्या ही वर्णन पद्धतिः ।
ज्ञेया समाधिभाषा या सात्विकायोपकारिका ॥१०१॥

जो भाषा कार्य ब्रह्म और कारण ब्रह्म के ज्ञान को प्रकाशित कर देती है तथा जो भाषा सर्वत्र समाधि सिद्ध भावों से पूर्ण हो और इसी तरह जो वर्णनपद्धति तत्त्व ज्ञानमयी हो उसको समाधि भाषा जानना चाहिये। वह सात्त्विक अधिकारी के लिये हितकरी है ॥१००-१०१॥

श्रवणं मननं तद्विन्नीदिध्यासनमेव च ।
एतात्रितयरूपो यः पुरुषार्थ इहोच्यते ॥१०२॥

निर्वृतिमूलकं भूत्वा सक्तं ब्रह्मनिरूपणे
यदा चेत् त्रितयं सर्वं तदा तत् सात्विकं मतम् ॥१०३॥

श्रवण मनन और निदिध्यासन, यह जो त्रितयरूप पुरुषार्थ जगत में कहा जाता है वह सब त्रितयरूप पुरुषार्थ जब निवृत्ति मूलक होकर ब्रह्मके निरूपणमें लगता है तब वह सात्त्विक माना जाता है। ॥१०२-१०३॥

यदा तत्लयमुत्पत्तिस्थिसत्ययस्वरूपिणि।
भावे भावं समासाद्य द्वैतरूपं निषेवते ॥१०४॥

तदा तं राजसं देवाः ! पुरुषार्थ प्रचक्षते।
यो हि नास्तिकतामूलः स तामस उदाहृतः ॥१०५ ॥

हे देवतागण! जब वह उत्पत्ति स्थिति लय. स्वरूप भाव में भावित होकर द्वैतरूप को प्राप्त होता है तब उस त्रितयरूप पुरुषार्थ को राजसिक कहते हैं और जो नास्तिकता. मूलक त्रितयरूप पुरुषार्थ है वह तामसिक कहा गया है॥१०४-१०५॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यमुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥१०६॥

आयु, सात्त्विकभाव, शक्ति, आरोग्य, चित्तप्रसाद और रुचि के बढानेवाले, रसयुक्त एवं स्नेहयुक्त, जिनका सारांश देह में स्थायी रूप से रहे और चित्त को परितोष करनेवाले आहार सात्विक पुरुषों के प्रिय होते हैं ॥१०६॥

कट्वाललवणात्युष्णताक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥१०७॥

कटु, अम्ल, लवण (क्षार) अत्युष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, विदाही, यह सब दुःख सन्ताप और रोगप्रद आहार राजसिक व्यक्तियों के प्रिय हैं।॥१०७॥

यातयामं गतरसं पृति पर्युषितञ्च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०८॥

एक पहर पहले बना हुआ (ठंडा) विरस, दुर्गन्धयुक्त, बासी, झूठा और अपवित्र जो आहार है वह तामसिक व्यक्तियों को प्रिय होता है। ॥१०८॥

सुखं त्विदानी त्रिविध शृणुतामृतभोजिनः।
अभ्यासादरमते यत्र दुःखान्तञ्च निगच्छति ॥१०९॥

यत्तदग्रे विपमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥११०॥

हे देवतागण ! अब सुनो सुख भी तीन प्रकार का है। जिस सुख में अभ्यास से अर्थात् स्वतः ही परमानन्द लाभ करता है और दुःख का अन्त प्राप्त करता है,वह आदि में विषवत् किन्तु परिणाम मे अमृततुल्य और आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न सुख सात्त्विक कहा जाता है।॥१०९-११०॥

विश्येंद्रियसंयोगादयत्तदग्रेऽमृतोपमम ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥१११॥

विषय और इन्द्रियों के संयोग से आदि में अमृततुल्य किन्तु परिणाममें विपतुल्य सुख राजस कहा जाता है ॥१११॥

यदने चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यामादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ११२ ॥

निद्रा आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न एवं आदि और अन्त में चित्त मोह उत्पन्न करनेवाला जो सुख है उसे तामस कहते हैं ॥११२॥

नियतस्य तु संन्यास: कर्मणो नोपपद्यते
मोहात्तस्य परिसागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ११३ ॥

नित्यकर्म का त्याग नहीं हो सकता, मोहवश जो नित्यकर्म का त्याग होता है उसे तामस त्याग कहते हैं ॥११३॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ११४ ॥

जो व्यक्ति "दुःख होता है। ऐसा जानकर दैहिक क्लेश के भय से कर्म त्याग करता है वह राजस त्याग करके त्याग का फल नहीं प्राप्त करता है ॥११४॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽमराः।
सङ्गं त्यकत्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥११५॥

हे देवतागण ! इन्द्रियसंग और फल का त्याग करके " कर्त्तव्य " जानकर जो नियमपूर्वक कर्म किया जाता है वह न्याग सात्त्विक त्याग माना गया है ॥११५॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि युष्मासु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यानिभिर्गुणः ॥११६॥

पृथिवी में स्वर्ग मे अथवा आप लोगों में ऐसा जीव नहीं है जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीन गुणों से सम्मलित न हो॥११६॥

त्रैगुणयविषया वेदा निस्त्रैगुणया: स्त निर्जर्रा
निर्द्वन्दा नित्यसत्त्वस्था निर्योगक्षेमकात्मकाः ॥ ११७ ॥

हे देवतागण ! सब वेदों में तीनों गुणों का ही विषय है, तुम तीनों गुणों से रहित हो जाओ, सुख दुःखादि द्वन्द्वों से रहित हो जाओ, नित्य सत्त्वगुण में रहो, अलब्ध वस्तु के लाभ में और लब्ध वस्तु की रक्षा में यत्नशून्य हो जाओ एवं आत्मवान् अर्थात् अप्रमत्त हो जाओ॥ ११७ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजाननः॥११८॥

सब स्थान जलमें डूब जानेपर क्षुद्र जलाशय से जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञ को सब वेदों से उतना ही प्रयोजन रहता है ॥११८॥

चातुर्वण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां वित्ताकर्तारमव्ययम् ॥११९॥

मैंने गुण और कर्मों के विभाग द्वारा चारों वर्णों की सृष्टि की है, उनका कर्ता होने पर भी अव्यय होनेके कारण मुझको अकर्ता जानो ॥११९॥

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मन एवेति तान वित्त न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२०॥

जो सब सात्त्विकभाव, राजसिकभाव एवं तामसिकभाव हैं, वह सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं ऐसा उनको जानो। मैं उन सब में नहीं हूँ परन्तु वह मुझमें हैं । ॥१२०॥

त्रिभिर्गुणमयभावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १२१॥

इन तीन गुणमय भावोसे मोहित यह सब जगत् इन सब भावोंसे अतीत एवं निर्विकारस्वरूप मुझको नहीं जानता है । ॥१२१॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १२२॥

यह मेरी सत्व आदि गुणमयी अलौकिक माया निश्चय ही दुस्तरा है, जो मुझको प्राप्त होते है वही इस मायाको अतिक्रमण कर सक्ते हैं ॥१२२॥

देवा ऊचुः॥१२३॥

देवतागण बोले ॥१२३॥

गुणत्रयस्य विज्ञानं गुरो ! तव मुखाम्बुजात् ।
कृतकृत्या वयं जाताः श्रुत्वा तन्महदद्भुतम् ॥१२४॥

हे गुरो ! हमलोग उस अत्यन्त अद्भुत गुणत्रय के विज्ञान को आपके मुखकमल से सुनकर कृतकृत्य हुए॥१२४॥

इदानीच वयं सर्वे भवतः कृपया विभो !।
रजस्तमोऽभिसंसक्ता नाऽधःपातं व्रजेम हि ॥१२५॥

हे विभो ! अब हम सब आपकी कृपा से रजोगुण तमोगुण में फंसकर अपने अवनति नहीं करेंगे ॥१२५॥

कृपासिन्धो ! वयं येन ज्ञानेन त्रिगुणस्य वै।
रहस्यं द्रष्टुमर्हाः स्मः प्रत्यक्षं सर्वदैव हि ॥ १२६॥

तथैव सर्वदाऽस्मासु शक्तिस्त्रिगुणदर्शिनी ।
विशेषतोऽनिशं तिष्ठत्तज्ज्ञानं नः समादिश ॥१२७॥

हे कृपानिधे ! हमें वह ज्ञान बताइये कि जिस ज्ञान से हम त्रिगुण के रहस्य को प्रत्यक्ष करने में सदा ही समर्थ हो और त्रिगुण को विशेष रूप से निरन्तर देखने की शक्ति हम लोगों में सदा बनी रहे॥ १२६-१२७॥

महाविष्णरुवाच ॥ १२८ ॥

महाविष्णु बोले ॥१२८॥

त्रिदशाः! त्रिगुणैनिर्त्यम सृष्टिस्थित्तिलाया इमे ।
प्रपञ्चात्मकदृश्यस्य भवन्तीत्यवधार्यताम् ॥१२९॥

हे देवतागण ! त्रिगुण के द्वारा दृश्य प्रपंच के यह सृष्टि स्थिति लय नित्य होते हैं, वह जानो ॥१२९॥

त्रिभावेनैव ते सर्वे ज्ञायन्ते च विशेषतः।
त्रिभावव्यक्षिका चाऽस्ति तत्त्वज्ञानोन्नतिः किल ॥१३०॥

और त्रिभाव के द्वारा ही वह सब विशेष रूप से जाने जाते हैं और तत्त्वज्ञान की उन्नति ही त्रिभावव्यंजिका है ॥१३०॥

मयि यत् सच्चिदानन्दरूपेणाऽस्ति दिवौकसः!।
मूलमध्यात्मभावस्याधिदेवस्य तथैव च ॥ १३१ ॥

अधिभूतस्य भावस्य ज्ञापकन्तु तदेव हि ।
तटस्थज्ञानसाहाय्यात्त्रिगुणस्य मतं बुधाः ॥१३२॥

हे देवतागण ! मुझमें जो सत् चित् और आनन्दरूप से अध्यात्मभाव अधिदैवभाव और अधिभूतभाव का मूल विद्यमान है, वही हे विशो ! तटस्थज्ञान की सहायता से त्रिगुण का ज्ञापक माना गया है ॥१३१-१३२॥

अविद्याऽऽवरिका ज्ञेया मत्स्वरूपस्य निश्चितम् ।
पुष्टिस्तस्याश्च रजसा तमसैव विजायते ॥१३३॥

मेरे स्वरूपज्ञान को आवरण करनेवाली अविद्या को ही जानो। रज और तमोगुण के द्वारा ही विद्या की पुष्टि होती है ॥१३३॥

सत्त्वात्प्रकाशो विद्याया भवतीति विभाव्यनाम।
अविद्याऽऽवियते लोके यथा तच्छ्यतां सुगः ॥१३४॥

सत्त्वगुण के द्वारा विद्या का प्रकाश होता है वह जानो। हे देवतागण ! संसारमें अविद्या जिस प्रकार से आवरण करती है वह सुनो ॥१३४॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा वित्तनमिह वैरिणम ॥१३५॥

रजोगुणसम्भूत अत्युग्र और दुष्पूरणीय काम और क्रोध को इस संसारमें शत्रु समझो ॥ १३५॥

धूमेनावियते वह्निर्यथादर्शों मलेन च ।
यथोल्वेनाटतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥१३६॥

जिस प्रकार अग्नि धूम्रके द्वारा, शीशा धूल के द्वारा और गर्भ जरायु के द्वारा आवृत रहता है उसी प्रकार आत्मज्ञान कामके द्वारा आवृत रहता है। ॥१३६॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण भो देवाः ! दुष्प्रेरेणानलेन च ॥१३७॥

हे देवतागण ! ज्ञानीके नित्य वैरी इस दुष्पूरणीय कामरूप अग्नि के द्वारा ज्ञान आच्छन्न है ॥१३७॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिर्स्याधिष्ठानमुच्यते।
एतर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥१३८॥

इन्द्रियां, मन और बुद्धि, इस काम के अधिष्ठान कहे जाते हैं, इन्हीं के द्वारा यह ज्ञान को प्राच्छन्न करके देही को मोहित किया करता है ॥१३८॥

यूयं तदिन्द्रियाण्यादौ नियम्य विबुधर्षभाः।

पाप्मानं प्रहतैनं हि ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥१३९॥

इस कारण हे देवश्रेष्ठो! तुम पहले इन्द्रियों का संयम करके इस ज्ञान विज्ञाननाशक पापी काम को नाश करो ॥१३९॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥१४०॥

देह की अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं इन्द्रियों की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है और जो बुद्धि से श्रेष्ठ है वही आत्मा है ॥१४०॥

एवं बुद्धे परं बुद्धवा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
हत शत्रु सुरश्रेष्ठा: ! कामरूपं दुरासदम् ॥१४१॥

हे देवश्रेष्ठो ! इस प्रकार बुद्धि की अपेक्षा श्रेष्ठ आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को संयत करके काम रूप दुर्निवार शत्रु का नाश करो ॥१४१॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥१४२॥

महामायाके द्वारा आवृत होने के कारण मुझे सब नहीं देख सकते हैं। यह मूढ़ संसार मुझे अजन्मा और अविनाशी नहीं जानता है ॥१४२ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चामरा: !।
भविष्याणि च भूतानि मान्तु वेद न कश्चन ॥१४३॥

हे देवतागण ! मैं भूत भविष्यत् और वर्तमान काल में स्थित समस्त स्थावर जंगम प्राणियों को जानता हूँ परन्तु मुझको कोई नहीं जानता है॥१४३॥

इच्छोद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन निर्जराः।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्त्यसुरारयः ! ॥१४४॥

हे असुरशत्रु देवतागण ! इच्छा और द्वेष से सम्भूत द्वन्द्व के मोह से सृष्टिकाल में सब जीव सम्मोह को प्राप्त होते हैं॥ १४४॥

येपान्त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥१४५॥

किन्तु जिन पुण्यात्मा व्यक्तियों का पाप नष्ट होगया है वे इन्द्रजनित मोह से रहित होकर दृढ़वत होते हुए मेरी भक्ति में रत रहते हैं ॥१४५ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्म कर्म चाखिलम् ॥१४६॥

जरा और मरण से बचने के लिये मेरा आश्रय करके जो प्रयत्न करते हैं वह उस ब्रह्म को, समस्त अध्यात्म को और समस्त कर्म को जानते हैं ॥१४६॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च य विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥१४७॥

जो मुझको अधिदैव अधिभूत और अधियज्ञ के सहित जानते हैं मुझमें आसक्तचित्त वह मरणकाल में भी मुझको जानते हैं ॥१४७॥

देवा ऊचुः ॥१४८॥

देवतागण बोले ॥ १४८ ॥

किं तब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म परमेश्वर ।
अधिभूतञ्च किं मोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१४९ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् दैत्यमूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥१५०॥

हे परमेश्वर ! वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, अधिभूत किसको कहा गया है, अधिदैव किसको कहते हैं, इस देह में अधियज्ञ कौन है और कैसे वह इस देह में स्थित है और हे दैत्य सूदन ! आप मरणकाल में संयतात्मा व्यक्तियों के द्वारा कैसे जाने जाते हैं ॥ १४६-१५०॥

महाविष्णुरुवाच ॥१५१॥

महाविष्णु बोले ॥१५१॥

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥१५२॥

परम अक्षर जिसका क्षय नहीं है अर्थात् जगत का मूल कारण वही ब्रह्म है, स्वभाव ही अर्थात आत्मभाव ही अध्यात्म कहा जाता है, भूतभावोद्भवकर अर्थात् सकल प्राणिमात्र की उत्पत्ति और स्थिति करनेवाला जो विसर्ग अर्थात् त्याग है वहीं कर्म है ॥१५२॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृताम्बराः !॥१५३॥

'हे देहधारियों में श्रेष्ठो! नाशवान् भाव देहादि अधिभूत हैं पुरुष स्वांशभूत सब दैवी शक्तियों का अधिपति अधिदैव है और इन शरीरों में मैं ही अधियज्ञ कूटस्थ चैतन्य हूँ ॥१५३॥

ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥१५४॥

ॐ तत सत्, यह तीन ब्रह्म के नाम हैं, इन तीनों के द्वारा पूर्वकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञो की सृष्टि हुई थी। ॥१५४॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम ॥१५५॥

इसी कारण ओम, यह शब्द उच्चारण करके ब्रह्मवादियों के शास्त्रोक्त यज्ञ दान और तप कर्म निरन्तर सम्पन्न हुआ करते हैं ॥१५५॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञ तपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥१५६॥

मुमुक्षगण फलाकांक्षा त्याग करके और तत् इस शब्दको उच्चारण करके विविध प्रकार के यज्ञ तप और दान कर्म करते हैं ॥१५६॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्माणि तथा सच्छब्दो युज्यतेऽमराः ! ॥१५७॥

हे देवतागण ! सद्भाव में (अस्तित्वमें) और साधुभावमें (साधुत्व में) सत् इस शब्द का प्रयोग होता है एवं श्रेष्ठ कर्म में भी सत् शब्द प्रयुक्त होता है ॥१५७॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥१५८॥

यज्ञ, तपस्या और दानकर्मों में लगे रहने को भी सत् कहा जाता है और तदर्थीय कर्म को भी सत ही कहते हैं ॥१५८॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत् ।
अमदित्युच्यते देवाः ! न च तत् प्रेत्य नो इह ॥१५९॥

हे देवतागण ! अश्रद्धापूर्वक होम करना, दान करना, तपस्या करना एवं जो कुछ भी करना, असत् कहा जाता है, वह न परलोक में और न इहलोक में फलदायक होता है ॥१५९॥

तत्त्वज्ञानस्य यन्मूलं संक्षेपाच्छृणुतामराः ! ॥
अवश्यमेव विजेयमित्येतावत् सुरर्षभाः ॥१६०॥

प्रपञ्चमयदृश्येऽस्मिन नास्ति किञ्चित्रिभावतः।
रहितं वस्तु भावो हि कारणं गुणदर्शने ॥ १६१ ।।

हे देवगण ! मैं संक्षेप से तत्त्वज्ञान का मूल कहता हूँ सुनो। इतना अवश्य ही आपलोगों को जानना उचित है कि इस प्रपञ्चमय दृश्य में कोई पदार्थ भी त्रिभाव से रहित नहीं है; क्योंकि भाव ही गुणदर्शन का कारण है ॥ १६०-१६१॥

प्रकृतिस्त्रिगुणा या मे प्रथमं त्रीन गुणान् स्वकान्।
स्वस्मिन् सम्यक् विलय्यैव तदा सा मयि लीयते ॥१६२॥

त्रिगुणमयी मेरी प्रकृति पहले तीनों अपने गुणों को अपने में सम्यक् लय करके ही तब वह मुझ में विलीन होती है ॥१६२॥

आदौ देवाः ! त्रयो भावाः स्थिताः स्वस्वस्वरूपतः।
पश्चादद्वैतरूपत्वमाश्रयन्तीति सम्मतम् ॥१६३॥

हे देवगण ! प्रथम तीनों भाव अपने अपने स्वरूपसे प्रकट रहकर पीछे अद्वैत रूपको आश्रय करते हैं, यह निश्चय है ॥१६३॥

गुणदर्शनहेतुर्हि तस्माद्भावः प्रकीर्तितः।
साधकानां मुराः ! भावो हवलम्बनमन्तिमम् ॥१६४॥

इस कारण से भाव गुण दर्शन का हेतु कहा गया है। हे देवतागण ! साधकों का अन्तिम अवलम्बन भाव है ॥१६४॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥१६५॥

मेरा ही अंश सनातन अर्थात् माया के कारण सदा संसारी रूप से प्रसिद्ध जीव, प्रकृति में स्थित मन और पञ्चेन्द्रियों को जीवलोक में आकर्षण करता है ॥१६५॥

शरीरं यद्वाप्नोति यच्चाप्युत्क्तामतीश्वरः।
गहीत्वैतानि संयति वायुर्गंधानिवाशयात ॥१६६॥

ईश्वर अर्थात् देही जिस शरीरको प्राप्त होता है और जिस शरीरको परित्याग करता है, जिस प्रकार वायु आशय अर्थात् कुसुमादि से गन्धयुक्त सूक्ष्मांश ग्रहण करके जाता है उसी प्रकार प्राप्त शरीरमें पूर्वपरित्यक्त शरीर से इन सब इन्द्रियादि को लेकर जाता है ॥१६६॥

श्रोतं चक्षुः स्पर्श्नच्य रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चाय विष्यानुप सेवते ॥१६७॥

यह देही श्रोत्र चक्षु त्वक रसना और घ्राण इन बाह्येन्द्रियों पर और अन्तःकरण पर अधिष्ठान करके विषयों का उपभोग करता है। ॥१६७॥

उत्क्रामन्तं स्थितम्वापि भुजानम्वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१६८॥

एक देह से देहान्तर मे जाने वाले देह में स्थित विषयभोगकारी और इन्द्रियादि से युक्त देही को विमूढ़ व्यक्ति नहीं देखते हैं किन्तु प्रात्मज्ञानी देखते हैं ॥१६८॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥१६९॥

संयतचित्त योगिगण इस देही को देह में अवस्थित देखते हैं और शास्त्रादि पाठ द्वारा यत्नशील होने पर भी आत्म तत्त्वानभिज्ञ मन्दमति इसको देख नहीं सकते ॥१६९॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१७० ॥

क्षर और अक्षर नामक ये दो पुरुष लोक में प्रसिद्ध हैं उनमे से सब भूतगण क्षर पुरुष और कूटस्थ चैतन्य अक्षर पुरुष कहा जाता है ॥१७०॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत।
यो लोकत्रयमाविशय विभर्त्तयव्यय ईश्वरः ॥१७१॥

इन क्षर और अक्षर से अन्य उत्तम पुरुष परमात्मा कहे गये हैं जो ईश्वर और निर्विकार हैं एवं लोकत्रय में प्रविष्ट होकर पालन करते हैं ॥ १७१ ॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१७२॥

क्योंकि मैं क्षर से अतीत हूँ, और अक्षर की अपेक्षा भी उत्तम हूँ इसी कारण लोक में और वेद में पुरुषोत्तम प्रसिद्ध हैं॥१७२॥

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन निर्जराः ! ॥१७३॥

हे देवतागण ! इस प्रकार निश्चित बुद्धि होकर जो मुझको पुरुषोत्तम समझता है वह सर्वज्ञ व्यक्ति मुझको ही सर्वभाव से पूजता है॥१७३॥

इति गुह्यतम शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघाः ।
एतबुवा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च देवताः ॥१७४॥

हे निर्दोष देवता गण ! यह परमगुहा शास्त्र मैंने कहा है इसको समझकर साधक सम्यक शानी और कृतकृत्य होता है ॥१७४॥

इति श्रीविष्णुगीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रं
देवमहाविष्णुसंवादे गुणभावविज्ञानयोगवर्णनम् नाम तृतीयोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योग शास्त्र में देव महाविष्णु सम्वादात्मक गुणभावविज्ञानयोगवर्णन नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्री विष्णवे नमः॥

॥ श्री विष्णु गीता ॥

अथ चतुर्थोऽध्याय : चतुर्थ अध्याय

कर्मयोगवर्णनम्

दवा ऊचुः॥१॥

देवतागण बोले ॥१॥

जगद्गुरो! देवदेव: करुणावरुणालय !।
निर्भयाः स्मो वयं जाता उपदेशन ते विभो ! ॥२॥

रहस्यं जगत:सृष्टेस्त्रिगुणैजनितं तथा ।
सृष्टेविभागमेतस्याः यथावज्ञानलब्धये ॥३॥

ज्ञात्वा भावरहस्यं च कृतकृत्यत्वमागताः।
अतस्ते कृपया काऽपि पतिप्यामो भये न हि ॥४॥

स्वासीमकृपयेदानीमस्मानुपदिश प्रभो !।
सृष्टनिंदानं किं देव ! तदुत्पत्तिः किमर्थिका ॥५॥

तस्याः प्रवर्तकः कोऽस्ति मूलनिर्मूलने स्फुटः।

उपायः कश्च तब्रूहि भवव्याधिनिवृत्तये ॥६॥

हे देवादिदेव ! हे जगद्गुरो ! हे करुणावरुणालय ! हे विभो ! आपके उपदेश द्वारा हम निर्भय हुए हैं ॥ २॥ संसार की सृष्टि का रहस्य, त्रिगुणजनित सृष्टि का विभाग और उसके यथावत् ज्ञान को प्राप्त करने के लिये भाव का रहस्य समझकर हम कृतकृत्य हुए। अतः आपकी कृपा से हम किसी भी भय में पतित नहीं होंगे ॥३-४॥ हे देव! हे प्रभो! अब अपनी असीम कृपा द्वारा हमको उपदेश दीजिये कि सृष्टि का मूल कारण क्या है? क्यों सृष्टि उत्पन्न हुई है? उस सृष्टिका प्रवर्तक कौन है? और इसके मूल को निर्मूल करने का स्पष्ट उपाय क्या है? भवरोग की निवृत्ति के लिये कृपया कर यह सब कहें ॥२-६॥

महाविष्णुरुवाच ॥७॥

महाविष्णु बोले ॥७॥

सृष्टिप्रवाहो विबुधाः ! मदिच्छातः प्रवर्त्तते ।
आधन्तरहितस्तद्वविस्तारावधिवर्जितः ॥८॥

हे देवगण ! अनादि अनन्त और जिसके विस्तार की अवधि नहीं है ऐसा सृष्टि प्रवाह मेरी इच्छा से प्रवाहित रहता है।॥८॥

निजानन्दप्रकाशाय साहाय्यात् सचितोः स्वयोः।
स्वीयां शक्ति महामायां स्वतः प्रकटयाम्यहम् ॥९॥

मैं अपने आनन्द को प्रकाशित करने के लिये अपने सत् और चिद्भाव की सहायता से अपने मे से अपनी शक्ति महामाया को प्रकट करताहूँ॥६॥

सैव शक्तिश्च मे देवाः ! जगतो जननी मता।
किन्तु सर्वस्य जगतः स्थित्युत्पत्तिलयेष्वपि ॥१०॥

केवलं कारणं कर्म विज्ञेयं मुरसत्तमाः ।
जड़चेतनभेदेन मदीया प्रकृतिद्विधा ॥११॥

और हे देवगण ! वही मेरी शक्ति जगत को उत्पन्न करती है, परन्तु सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति स्थिति और लयों में भी एकमात्र कारण कर्म ही है ऐसा जानना चाहिये। जड़ और चेतन भेदसे मेरी प्रकृति दो प्रकारकी है॥१०-११॥

विद्या तु चेतना ज्ञेया जडाऽविद्या प्रकीर्तिता।
त्रिगुणा सा समाख्याता तत एव च हेतुतः ॥१२॥

कम्मोत्पत्तर्हि सा हेतुर्भवतीयवधार्यताम्।
परिणामात्तदुत्पत्तिस्त्रिगुणस्य मता सुराः ॥ १३ ॥

चेतनमयी विद्या कहलाती है और जड़ अविद्या कहलाती है। वह त्रिगुणमयी है और त्रिगुणमयी होनेसे कर्म की उत्पत्ति का कारण बन जाती है, सो जानो। हे देवगण ! त्रिगुण परिणाम से ही कर्मों की उत्पत्ति मानी गई है ॥ १२-१३ ॥

जैवैशसहजा भेदा: कर्मणस्तस्य कीर्तिता: ।

कर्मणा सहजेन स्युर्ब्रह्माण्डानां त्रयः सदा ॥ १४॥

सृष्टिस्थितिलया एते क्रमशो ह्यमितौजसः ।
विशिष्टचेतना जीवा: सम्बद्धा जैवकर्मणा ॥ १५॥

कर्मणैशेन सम्बन्धः पितृणां भवतां नथा।
ऋषीणां चावताराणां सर्वेषां मे दिवौकसः ॥१६॥

कर्म के तीन भेद है, उनको जैव, सहज और ऐश कहते हैं । हे विपुलबलशाली देवगण! सहज कर्म द्वारा ब्रह्माण्डो के उत्पत्ति स्थिति और लय क्रम से हुआ करते हैं, जैव कर्म के साथ विशिष्टचेतन जीवों का सम्बन्ध है और मेरे सब अवतारों के साथ तथा पितृ ऋषि और आपलोगों के साथ ऐश कर्म का सम्बन्ध है ॥१४-१६॥

कर्मणी ऐशसहजे शुद्ध एव सदा मते ।
शुद्धाशुद्धविभेदस्तु जैवकर्मसु विद्यते ॥१७॥

ऐश कर्म और सहज कर्म सदा शुद्ध ही होते हैं। जैव कर्म के दो भेद हैं, एक शुद्ध और एक अशुद्ध ॥१७॥

उभे एते समाख्याते कारणं पुण्यपापयोः ।
कामनाजनितावेतौ भेदौ हि परिकीर्तितो ॥१८॥

यह दोनों कर्म पुण्य और पापके कारण होते हैं। ये दोनों भेद कामनाजनित कहे गये हैं ॥१८॥

अनाधन्तो वासनायाः प्रवाहो ह्येव कारणम् ।

सृष्टेरनाद्यनन्तायाः प्रवाहस्य सुरर्षभाः ॥१९॥

हे देवगण ! अनादि अनन्त वासनाप्रवाह ही अनादि अनन्त सृष्टिप्रवाह का कारण है ॥१९॥

वासनानाशमात्रेण कर्मणोः सहजैशयो।
जैवस्य परिणामः स्यादृशेयं कर्मयोगिनी ॥२०॥

वासनाके नाश होते ही जैवकर्म भी सहज कर्म और ऐश कर्मों में परिणत होजाता है। इस दशाको कर्मयोग कहते हैं ॥२०॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥२१॥

इस निष्काम कर्मयोग में प्रारम्भ की विफलता नहीं है, प्रत्यवाय अर्थात् विघ्न भी नहीं है, इस धर्म का अल्प आचरण भी महाभय से रक्षा करता है ॥२१॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह यज्ञभुग्वराः !।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥२२॥

हे यज्ञभाग-भोग करनेवालों में श्रेष्ट देवगण ! इस कर्मयोग, व्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है किन्तु अव्यवसायी अर्थात् सकाम कर्म करनेवालोंकी बुद्धियाँ बहुशाखाओ से युक्त और अनन्त होती हैं ॥२२॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरता देवाः ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥२३॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलपदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगति प्रति ॥ २४ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥२५॥

हे देवतागण ! वेद के अर्थवाद में तत्पर, "जगत के अतिरिक्त ईश्वरतत्त्व और कोई नहीं है" इस प्रकार कहने वाले, कामात्मा और स्वर्गसुख की इच्छा करनेवाले जो अज्ञानी जीव हैं, वह जन्मकर्म फलप्रद, भोगैश्वर्य प्राप्ति के साधनभूत और यज्ञादि क्रिया विशेषप्राय पुष्पित वाक्य कहते रहते हैं, उन पुष्पित वाक्यों से विचलित चित्त और भोगैश्वर्य में आसक्त व्यक्तियों की व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधिक योग्य नहीं है ॥ २३-२५ ॥

यत्र काले ह्यनावृत्तिमावृत्तिश्चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि विबुधर्षभाः ॥२६॥

हे देवता गण ! जिस काल में अर्थात् कालरूप मार्ग में मरणके पश्चात् जाकर योगिगण अनावृत्ति (मोक्ष) और आवृत्ति (संसार में पुनः आगमन) को प्राप्त होते हैं उस कालरूप मार्ग का वर्णन करता हूँ ॥२६॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२७॥

अग्निज्योति अर्थात् अर्चि (तेज) की सकल अधिष्ठातृ देवताएँ, अहः अर्थात् दिवसाधिष्ठातृ देवता, शुक्लः अर्थात् शुक्ल पक्षाधिष्ठातृ देवता, उत्तरायण रूप छ:मास अर्थात् उत्तरायणाविष्ठातृ देवता, इन देवता गण का जो मार्ग है उसमें मृत्यु के बाद जानेवाले ब्रह्मवेत्तागण ब्रह्म को प्राप्त होते हैं॥२७॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमस ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥२८॥

कर्मयोगी (मरणके पश्चात्) धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन छःमास इन सबके अधिष्ठातृदेवताओ के पास उत्तरोत्तर जाकर क्रम से चन्द्रलोक को प्राप्त करके भोगावसान में पुनः वहां से संसार में आता है ॥२८॥

शुक्लकृष्णे गती होते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनाद्दत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः ॥२९॥

प्रकाशमय अचिरादि शुक्ला गति एवं तमोमय धूमादि कृष्णा गति, जगत्के ये दो मार्ग अनादि. रूपसे प्रसिद्ध हैं, इन दोनों से एकके द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है और दूसरे के द्वारा पुनः संसार में प्रत्यावृत्ति होती है ॥२९॥

कर्मेव कारणं शुक्लकृष्णगत्योर्न संशयः ।
स्वर्लोक निरयम्वाऽपि पितृलोकमथापि वा ॥३०॥

आसाद्य प्रेतलोकम्बा जीवा यान्ति पुनः पुनः ।
मर्त्यलोके जनि देवाः ! कृष्णगत्या न संशयः ॥३१॥

कर्म ही शुक्ल और कृष्ण दोनों गति का निःसन्देह कारण है। हे देवगण ! जीवों को स्वर्गलोक प्राप्ति, नरकलोक प्राप्ति, पितृलोक प्राप्ति वा प्रेतलोक प्राप्ति करा कर वारंवार मृत्युलोक में जन्मप्राप्ति कराना कृष्णगति का कार्य है इसमें सन्देह नहीं ॥३०-३१॥

सत्यलोकन्तु सम्प्राप्य शुक्लगत्या समुन्नतम् ।
तत्र कर्मबलेनैव कैवल्यं लभ्यते ध्रुवम् ॥ ३२॥

शुक्लगति के द्वारा समुन्नत सत्य लोक में पहुंचकर कर्म के बल से ही वहां निश्चय मुक्ति प्राप्त की जाती है ॥३२॥

कृष्णगत्यां प्रधानाऽस्ति प्रवृत्तिवि बुधर्षभाः!।
शुक्लगत्यां निहत्तेस्तु प्राधान्यं परिकीर्तितम् ॥ ३३ ॥

हे देवगण ! कृष्ण गति में प्रवृत्ति प्रधान है और शुक्लगति में निवृत्ति प्रधान कही गई है॥३३॥

आभ्यां भिन्ना गतिश्चान्या गतिभ्यां समुदाहृता ।
सहजाख्या च वो देवाः ! याऽधिकाराद्वहिर्गता॥३४॥

इन दोनों गतियों के अतिरिक्त एक तीसरी गति और कही गई है जिसको सहज गति कहते हैं जो सहजगति हे देवतागण ! आपलोगों के अधिकार से बाहर है॥३४॥

मद्भक्ता धर्मतत्त्वज्ञा आत्मज्ञानरताश्च ये।
त एवैतां महात्मानो लभ्यन्ते सहजां गतिम् ॥३५॥

जो धर्मतत्त्व के जाननेवाले, आत्मज्ञान में तत्पर, मेरे भक्त महापुरुष गण हैं, वे ही इस तीसरी गति को प्राप्त होते हैं ॥३५॥

तत्वज्ञास्य लाभे ये वासनया: क्षये तथा ।
कर्मयोगे रता यन्ति जीन्मुक्तास्तु तां गतिम् ॥३६॥

जो वासना का नाश, तत्त्वज्ञान लाभ और कर्मयोग में रत हैं, वे जीवन्मुक्तगण इस गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ३६॥

अतीवास्ति सुदुज्ञेया गतिर्देवा: ! हि कर्मण: ।
तत्रोदाहरण ह्योकं विषदं शृणुतामरा:! ॥३७॥

हे देवतागण ! कर्म की गति अत्यन्त ही दुर्ज्ञेय है। हे देवगण ! इसमें एक स्पष्ट उदाहरण सुनो ॥३७॥

ग्रंथीना बन्धनं कर्म ग्रंथिमोचनमित्यपि ।
तुल्यं कर्मद्वयं देवा उदर्के त्वन्तरं महत् ॥३८॥

गांठ का बांधना भी कर्म है और गांठ का खोलना भी कर्म, हे देवगण ! दोनों कर्म तुल्य हैं किन्तु अन्तिम परिणाम में बड़ा भेद है॥ ३८ ॥

मोचनान्मुच्यते वस्तु बन्धनाचनियम्यते ।
तथा सकामनिष्कामौ देवा जानीत कर्मणी ॥३९॥

गांठ के बांधनेरूपी कर्म द्वारा जैसे पदार्थ बांधा जाता है वैसे गांठ के खोलनेरूपी कर्मा द्वारा पदार्थ खुल जाता है । इसी उदाहरणके अनुसार हे देवगण ! सकाम और निष्काम कर्म जो जानो ॥३९॥

हैमी लौहमयी वापि शङ्खला किम्विधापि चेत् ।
पाणिनां बन्धनायैव कल्पते नात्र संशयः ॥४०॥

लौह निर्मित अथवा स्वर्ण निर्मित किसी प्रकार की भी शृंखला हो वह जीवों को बांधती ही है इसमें सन्देह नहीं ॥४०॥

तथा सकामकर्माऽपि शुभं वाप्यशुभं भवेत् ।
बनाति मुदृढ़ जीवानिति जानीत निर्जराः ॥४१॥

उसी प्रकार सकाम कर्म चाहे शुभ या अशुभ हो वह जीवों को अच्छी तरह बाँधता ही है, हे देवगण ! सो जानो ॥४१॥

वासनाया: क्षये जाते तत्त्वज्ञानेन सर्वथा ।
कर्तव्यबुद्धया यत्कर्म निष्कामं क्रियतेऽमराः ॥४२॥

कैवल्यकारणं भूत्वा जीवेभ्यस्ताद्धि निश्चितम्।
यस्या न पुनराशत्तिस्तां दत्ते सहजां गतिम् ॥४३॥

तत्त्वज्ञानके द्वारा वासनाके सर्वथा नाश होनेपर कर्तव्य बुद्धिके अनुसार जो कर्म निष्कामभावसे किया जाता है हे देवगण ! वही निश्चय मुक्ति का कारण होकर जिससे पुनरावृत्ति नहीं होती उस सहजगति को जीवोंको देता है ॥ ४२-४३॥

जीवन्मुक्तोऽथ सम्प्राप्तः सहजां गतिमुत्तमाम् ।
मरुस्थलेऽथवा जह्याच्छरीरं जाह्नवीतटे ॥ ४४ ॥

अथवा कृतकृत्योऽसौ मुक्तात्मा स्वात्मवित्सुरा ।
अन्तिमश्वासपर्यन्तं वसेचाण्डालवेश्मनि ॥४५॥

प्राणायाम प्रकुर्वत वां देहं देवालये त्यजेत ।
सर्वत्र सर्वदा तस्य मुक्तावस्थाऽवतिष्ठते ॥४६॥

हे देवगण ! उत्तम सहजगति को प्राप्त जीवन्मुक्त चाहे मरुस्थल मे शरीरत्याग करे चाहे गंगातीर में शरीरत्याग करे, चाहे वह कृतकृत्य आत्मज्ञानी मुक्तात्मा चांडाल के गृह में अपने अन्तिम श्वास तक वास करे, चाहे देवमन्दिर में प्राणायाम करता हुआ देहत्याग करे, उसकी मुक्तदशा सब स्थानों में हर समय बनी रहती है॥४४-४६॥

जलबिन्दुर्यथाऽऽकाशपतितो यति वारिधिम ।
तथैव स हि मुक्तात्मा लभते मामसंशयम् ॥४७॥

वह मुक्तारमा आकाश पतित वारिबिन्दु के समुद्र में पतित होने के समान मुझको निस्सन्देह प्राप्त होता है ॥४७॥

युष्माभिरपि भो देवाः ! कर्मयोगरतात्मिभः।
कर्तव्यबुद्धया सततं कार्य कर्म विधीयताम् ॥४८॥

हे देवतागण ! आपको कर्मयोग में रत होकर कर्तव्य बुद्धि से सर्वदा कर्त्तव्य कर्म को करना चाहिए ॥४८॥

देवाः : कुरुत कम्माणि योगस्थाः सङ्गःवर्जिताः।
सिद्धयसिद्धयोः समा भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४९॥

हे देवतागण ! इन्द्रियसङ्ग का त्याग करके, सिद्धि और असिद्धिमें समभावापन्न होकर और योग में अवस्थित होकर कर्म करना ,समत्व ही, योग कहा जाता है ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्मादयोगाय युज्यध्वं योगः कर्म सुकौशलम् ॥५०॥

बुद्धि द्वारा ब्रह्म में युक्त व्यक्ति इस लोक में सुकृत दुष्कृत (पुण्य पाप) दोनों को ही त्याग करता है इस कारण आपलोग कर्मयोग में नियुक्त हुए, सुकौशल पूर्ण कर्म ही योगपद वाच्य हैं॥५०॥

कर्मजै बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

बुद्धियुक्त पंडित गण निश्चय ही कर्मजनित फल को त्याग करके जन्मरूप बन्धन से मुक्त होकर सर्वोपद्र वशुन्य मोक्षपद को प्राप्त होते हैं ॥५१॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यदवत् ।
तद्वत कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥५२॥

जिस प्रकार (नाना नदियोंके द्वारा) आपूर्यमाण और अचञ्चल समुद्र में (अन्य) जलप्रवेश करते हैं अर्थात् उसमें मिल जाते हैं। उसी प्रकार जिसमें सकल कामनाएं प्रवेश करती हैं अर्थात् लीन होती हैं वह शान्तिको प्राप्त होता है किन्तु भोगकामनाशील व्यक्ति शान्तिको नहीं प्राप्त होता है ॥५२॥

विहाय कामान् यः सर्वान् प्राणी चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥५३॥

जो प्राणी सकल काम्य वस्तुओं की उपेक्षा करके नि:स्पृह निरहङ्कार और विषयों में ममताशून्य होकर यत्र तत्र भ्रमण करता है वह शान्ति को प्राप्त होता है ॥५३॥

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघाः !।
ज्ञानयोगेन सांख्ययानां कर्मयोगेन योगिनाम ॥५४॥

हे निष्पापो ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मैंने पहले कही है, यथाः- ज्ञानयोग द्वारा सांख्यों की और कर्म योग द्वारा योगियों की ॥५४॥

न कर्मणामनारम्भानप्कम्य साधकोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥५५॥

कोई साधक कर्म का अनुष्ठान न करके नैष्कर्म्य अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता है एवं आसक्ति त्याग के बिना केवल सन्यास कर्म त्याग से ही सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है ॥५५॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्मा सर्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५६॥

किसी भी अवस्था में क्षणमात्र भी कोई कर्म न करके नहीं ही रह सक्ता है, प्रकृतिजनित (सत्त्वादि) सब गुण ही अवश करके कर्म कराते हैं। ॥५६॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन
इन्द्रियार्थान् विमुढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥५७॥

जो व्यक्ति कर्ममेन्द्रियों को संयत करके मन में इन्द्रियों के सकल विषयों को स्मरण करता रहता है उस विमूढात्मा को कपटाचारी कहते हैं। ॥५७॥

यस्त्विान्द्रयाणि मनसा नियम्यारभतेऽमराः ।
कम्मेन्द्रियैः कर्मयोगममक्तः स विशिष्यते ॥५८॥

किन्तु हे देवतागण! जो मन द्वारा इन्द्रियों को संयत करके कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का अनुष्ठान करता है फलकामनाहीन वह व्यक्ति विशिष्ट है अर्थात् प्रशंसायोग्य है ॥५८॥

नियतं क्रियतां कर्म कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च वो न प्रसिद्धयेदकर्मणाम् ॥५९॥

आप लोग अवश्य कर्तव्य कर्म करो क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ट है। कर्मों का, त्याग करनेसे आप लोगों का शरीर यात्रा निर्वाह भी नहीं होगा॥५९॥

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कम्मबन्धनः ।
तदर्थ कर्म देवौघाः : मुक्तसंङ्गः विधत्त भोः ॥६०॥

हे देवता गण ! यज्ञार्थ कर्मों के अतिरिक्त कर्म करने पर इस लोक में कर्म बन्धन होता है अतएव यज्ञके लक्ष्य से निष्काम होकर कर्मों को करो॥६०॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च साधकः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य न विद्यते ॥६१॥

किन्तु जो साधक आत्मा में ही रत है, आत्मा में ही तृप्त है एवं आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है उसके लिये कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है ॥६१॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
नचास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥६२॥

इस लोकमें किये हुए कर्मद्वारा उसको पुण्य भी नहीं होता है और न करनेसे कोई पाय भी नहीं होता है एवं सकल भूतों में स्थित ऐहिक या पारत्रिक कोई भी विषय उसके लिये आश्रयनीय नहीं है ॥६२॥

तस्मादसक्तैः सततं काय्य कर्म विधीयताम् ।
असक्ताः कर्म कुर्वन्तो लभन्ते पूरुषं परम् ॥६३ ॥

अत: आपलोग फलासक्ति शून्य होकर सर्वदा आवश्यक कर्तव्य कर्मों के अनुसार अनुष्ठान करो क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करने से साधक मोक्ष को प्राप्त होते हैं। ॥६३॥

कर्मणैव हि संसिद्धि मास्थिता साधका: सुरा: ! ।
लोकसंग्रहमेवापि पश्यन्तः कर्तुमर्हथ ॥६४॥

हे देवतागण ! साधकगण कर्म के द्वारा ही संसिद्धि अर्थात ज्ञान प्राप्त करते हैं। सब लोगों को अपने अपने धर्म में प्रवर्तित करने के विषय का लक्ष्य रखकर भी कर्म करना उचित है। ॥६४॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरः खलु।
म यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥३५॥

क्योंकि श्रेष्ठ व्यक्ति जो कर्मा करते हैं अन्यान्य लोग भी वही कर्म करते हैं, वह जिसको कर्तव्य समझते हैं उसी का अनुवर्तन अन्य लोग करते हैं ॥६५॥

देवाः! मेऽस्ति न कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन !
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥६६॥

हे देवतागण ! मेरा कर्तव्य कुछ नहीं है क्योंकि त्रिलोकी में मेरे लिये अप्राप्त वा प्राप्तव्य कुछ नहीं है तथापि मैं कर्म में प्रवृत्त ही रहता हूँ ॥६६॥

यदि ह्यहं न वर्लयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वानुवर्त्तन्ते प्राणिनः सर्वशोऽमराः ॥३७॥

हे देवतागण ! कभी यदि मैं आलस्यरहित होकर कर्मानुष्ठान न करूँ तो निश्चय ही जीवधारी मेरे मार्ग सभी प्रकार से अनुसरण करेंगे ॥६७॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुटयाँ कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ ६८॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो यह सभी लोग धर्म का लोप होने से विनष्ट हो जायँगे और मैं वर्णसंकर का कर्ता हो जाऊँगा, इस प्रकार मैं ही इन प्रजाओ के नाश का कारण बनूँगा॥६८॥

सक्ता: कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति निर्जरा: ! ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम ॥६९॥

हे देवतागण ! कर्म में आसक्त अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्म करते हैं उसी प्रकार कर्म में अनासक्त ज्ञानी लोग भी लोगो को स्वधर्म में प्रवर्तित करने के लिये इच्छुक होकर कर्म करते हैं। ॥६९॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
योजयेत् सर्वकम्माणि विद्वान युक्तः समाचरन् ॥७० ॥

कर्मासक्त अज्ञ लोगों का बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये, प्रत्युतन्तु ब्रह्मज्ञ पण्डित व्यक्ति को स्वयं सब कर्मों का अनुष्ठान करके अज्ञ लोगों को कर्म में नियुक्त करना चाहिये ॥७०॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कम्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥७१॥

सब कर्म प्रकृतिके गुणों द्वारा सर्वतोभावेन निष्पादित होते हैं किन्तु अहङ्कार से विमूढ चित्त व्यक्ति "मैं कर्ता हूँ, ऐसा समझता है ॥ ७१ ॥

तत्त्ववित्तु सुपर्वाणः ! गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न मज्जते ॥७२॥

परन्तु हे देवतागण ! गुण और कर्मों के विभाग के तत्व को जाननेवाला व्यक्ति "इन्द्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं। ऐसा समझकर कर्तापन का अभिमान नहीं करता है ॥७२॥

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
नानकृत्स्नाविदो मन्दान् कृत्स्नविन विचालयेत् ॥७३।

प्रकृति के सत्त्वादि त्रिगुणों से मोहित होकर जो इन्द्रियोंमें और इन्द्रियों के कार्यों में आसक्त होते हैं, सर्वज्ञ व्यक्ति को उन मन्दमति अज्ञ लोगों को विचलित नहीं करना चाहिए ॥७३॥

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशिषो निर्ममाश्च यतवं विगतज्वराः ॥७४॥

मुझमें समस्त कर्म अर्पण करके आत्मा में चित्त को रखते हुए निष्काम और ममता शून्य होकर शोक त्यागपूर्वक कर्म करना चाहिए ॥७४॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति साधकाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥७५॥

जो साधक मेरे इस सिद्धान्त के अनुसार श्रद्धावान् और दोषदृष्टि विहीन होते हुए कर्मों को नित्य करते रहते हैं वे कर्म करनेवाले होने पर भी कर्मों से मुक्त रहते हैं। ॥७५॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्वित्त नष्टानचेतसः ॥७६॥

किन्तु जो केवल दोष. दर्शन करते हुए मेरे इस सिद्धान्तके अनुसार कर्मानुष्ठान नहीं करते हैं उन विवेकहीनों को सर्वज्ञान विमूढ़ और नष्ट जानना चाहिए ॥७६॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्शानवानपि ।
प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥७७ ॥

ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करता है और प्राणि मात्र ही अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हैं अतः इन्द्रियों का निग्रह क्या करेगा? ॥७७॥

इन्द्रियम्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥७८॥

प्रत्येक इन्द्रियका अपने अपने अनुकूल विषय में अनुराग और प्रतिकूल विषय में द्वेष अवश्य होता है अतएव इन दोनों के वशमें नहीं होना चाहिये क्योंकि ये दोनों मुमुक्ष के प्रतिपक्षी हैं ॥७८॥

श्रेयान स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ७९ ॥

सुचारुरूप से अनुष्ठित परधर्म की अपेक्षा दोषसहित स्वधर्म श्रेष्ठ है, अपने धर्म में स्थित रहते हुए मरना भी अच्छा है किन्तु परधर्म भयोत्पादक है।॥७९॥

न मां कम्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥८०॥

"मुझको सकल कर्म शासक्त नहीं कर सकते एवं कर्मफल में मेरी स्पृहा नहीं है" इस प्रकार जो मुझको जानता है वह कर्म में बद्ध नहीं होता है ॥८०॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
तस्माद्विधत्त कम्मैव पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥८१॥

इस प्रकार जानकर पूर्वकालीन मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया है अतः आपलोग भी पुरातन काल के मुमुक्षुओं द्वारा पूर्वकाल में किए हुए कर्म को ही करो ॥८१॥

किं कर्म किमकर्ममेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तद्वः कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यथाशुभात् ॥८२॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है इस विषयमें विवेकी लोग भी मोहित होते हैं अतएव जिसके जानने से आपलोग अशुभ अर्थात् कर्मासक्ति से मुक्त होगे मैं उस कर्म को कहता हूँ ॥८२॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥८३॥

कर्म अर्थात् निष्काम कर्मका रहस्य भी जानने योग्य है, विकर्म अर्थात् सकाम कर्म का रहस्य भी जानने योग्य है और अकर्म अर्थात् कर्म भाव का भी रहस्य जानने योग्य है क्योंकि कर्म की गति अतिगहन है ॥८३॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्माणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान साधकेषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥८४॥

जो निष्काम कर्म में कर्म भाव देखता है और कर्म रहित अवस्था में जो कर्म का होना देखता है वह साधकों में बुद्धिमान है और वह सभी कर्म करते रहने पर भी मुझमें युक्त है ॥८४॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
जानानिदग्धकमणिं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥८७ ॥

जिसके सब कर्म कामना और सङ्कल्पसे रहित हैं ज्ञानीलोग उस ज्ञान अग्नि के द्वारा दग्धकर्मा व्यक्ति को पंडित कहते हैं ॥८५॥

त्यकत्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥८६॥

वह कर्म और कर्मफल पर आसक्तिरहित होकर नित्यानंद मे तृप्त और निरवलंबन होकर कर्म मे प्रवृत रहने पर भी कुछ भी नहीं करता है ॥८६॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्व परिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥८७॥

जो शरीरके द्वारा केवल नाममात्र के लिये कर्म करता है वह निष्काम, यतचित्त आत्मा और त्यक्त सर्व परिग्रह होने के कारण पाप को पप्राप्त नहीं होता है।॥८७॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातितो विमत्सरः।
ममः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥८८॥

एवं वह इच्छा लाभ में सन्तुष्ट, द्वन्द्वातीत, शत्रुताशून्य और सिद्धि और असिद्धि में हर्ष विषादशून्य होनेके कारण कर्म करनेपर भी बद्ध नहीं होता है ॥८८॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं पविलीयते ॥८९॥

निष्काम, सर्वबन्धनमुक्त, ज्ञानमें अवस्थितचित्त और यज्ञ के लक्ष्य से कर्म करने वाले व्यक्ति के समस्त कर्म विलय को प्राप्त हो जाते हैं ॥८९॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥९०॥

शरीरद्वारा, मनद्वारा, बुद्धिद्वारा और कर्माभिनिवेश शून्य इन्द्रियगण द्वारा योगिगण कर्मफलासक्ति को परित्याग करके आत्मशुद्धि के लिये कर्म किया करते हैं ॥९०॥

युक्त: कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥९१॥

ब्रह्म मे युक्त व्यक्ति कर्मफल का त्याग करके कर्म करने पर भी ब्रह्मनिष्ठा से उत्पन्न शांति को प्राप्त होता है और अयुक्त व्यक्ति

कामना में प्रवृत्त होनेके कारण कर्मफल में आसक्त होकर बद्ध होता है ॥९१॥

यं सन्न्याममिति प्राहुर्योग जानीत तं सुराः।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥९२॥

हे देवगण ! जिसको सन्यास कहते हैं उसीको योग जानो क्योंकि फलकामनाका त्याग किये बिना कोई योगी नहीं हो सक्ता है ॥९२॥

आरुरुक्षोसुनेर्योग कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥९३॥

कर्मयोग मार्ग पर चलने वाले की इच्छा करने वाले योगी के लिए कर्म ही ही कारणरूप (साधनरूप) कहा जाता है, परन्तु कर्मयोग पद पर आरूढ़ व्यक्ति के लिये समाधि ही कारणरूप (साधनरूप) कही गई है ॥९३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥९४॥

साधक जब इन्द्रियों के भोग्य विषयों पर और उनके साधनभूत कर्मों पर आसक्ति नहीं रखता है तब वह सर्व संकल्प त्यागी व्यक्ति योगारूढ़ कहा जाता है ॥९४॥

देवाः ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चित् क्वापि दुर्गतिमृच्छति ॥९५॥

हे देवगण ! इस लोकमें वा परलोकमें उसका विनाश नहीं है क्योंकि कोई भी शुभकर्मकारी कहीं भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है ॥९५॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥९६॥

योगभ्रष्ट व्यक्ति पुण्यात्माओंके लोकोंको प्राप्त होकर और वहां बहुत वर्षों तक सुखभोग करके पवित्रात्मा श्रीमानों के घर में जन्म ग्रहण करता है ॥९५॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥९७॥

अथवा ज्ञानी योगियों के वंश मे वह जन्म ग्रहण करता है ऐसा जन्म होना जगत में निश्चय ही दुर्लभतर है ॥९७॥

तत्र तं बुद्धिसंयोग लभते पौर्वदहिकम ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ विबुधर्षभाः ॥९८॥

हे देव गण ! वह उक्त दोनों प्रकार के जन्मों में ही पूर्वजन्म में उत्पन्न ब्रह्म विषयक बुद्धि-संयोग को प्राप्त करता है और मोक्ष के विषय में अधिक प्रयत्न करता है ॥९८॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥९९॥

पूर्वजन्म का अभ्यास ही उसको अवश करके ब्रह्मनिष्ठ बना देता है क्योकि योग के स्वरूप को जानने की इच्छा करनेवाला व्यक्ति भी वेद के शब्दसम्बन्धी स्वरूप को अतिक्रमण कर जाता है ॥९९॥

प्रयत्नादयतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥१००॥

और प्रयत्नपूर्वक साधन करने वाला योगी पापरहित होकर अनेक जन्मों में योगसिद्ध होकर तत्पश्चात् परम गति को प्राप्त होता है। ॥१००॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मभावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥१०१॥

शरीरान्त के समय मुझको स्मरण करते करते जो देह त्याग करता है वह मेरे भाव को प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं ॥१०१॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति भो देवाः ! सदा तद्भावभावितः ॥१०२॥

देहान्त के समय जिस जिस भाव का स्मरण करते करते वह योगी देहत्याग करता है, हे देवतागण ! सर्वदा उसी उसी भावना में चित्त के स्थित रहनेके कारण उसी भाव को ही प्राप्त होता है ॥१०२॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कम्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्मादभवत योगिनः ॥१०३॥

मेरी सम्मतिमें योगी तपस्वियोंसे भी श्रेष्ठ है, ज्ञानियों भी श्रेष्ठ है और कर्मनिष्ठ व्यक्तियों से भी श्रेष्ठ है, अत: आप सभी को योगत्व की इच्छा ही रखनी चाहिए ॥१०२॥

कम्मण्येवाधिकारो वो मा फलेषु कदाचन ।
न कर्मफलहेतुत्वं न वः सङ्गोऽस्त्वकर्माणि ॥ १०४ ।

कर्म करने में ही आपलोगों का अधिकार है, फल इन इच्छा आप लोगों को कभी नहीं होनी चाहिए आपको कर्मफल की प्राप्ति के कारण भी नहींहोना चाहिए और न ही सकाम कर्मों में आपलोगों की प्रवृत्ति होनी चाहिये ॥१०४॥

वदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत् ति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥१०५॥

वेदपाठ करनेसे, यज्ञ करने से, तपस्या करने से और दान करने से जो पुण्य कहा गया है, इस कर्मयोग के रहस्य को जानलेने से योगी उन सब पुण्यफलो को प्राप्त कर लेता है और जगत के मूलभूत परमपद को प्राप्त करता है॥१०५॥

इति श्रीविष्णुगीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रं
देवमहाविष्णुसंवादे कर्मयोगवर्णनम् नाम चतुर्थोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योग शास्त्र में देव महाविष्णु सम्वादात्मक कर्मयोगवर्णन नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्री विष्णवे नमः॥

॥ श्री विष्णु गीता ॥

अथ पंचमोऽध्याय : पांचवां अध्याय

भक्तियोगवर्णनम्

देवा ऊचुः ॥१॥

देवतागण बोले ॥१॥

हृन्मान्दराविहारिन् ! भो भक्तानां भक्तवत्सल !।
भवतः प्राप्तये देवा ऋषयो मानवास्तथा ॥२॥

पितरश्चैव हे नाथ : सर्वे साधनमार्गगाः।
कीदृशं मार्गमालम्ब्य भवेयुः सफलाशयाः ॥३॥

हे भक्तवत्सल ! हे भक्त मनोमन्दिर विहारी ! हे नाथ ! आपको प्राप्त करने के लिये साधनमार्गगामी सब ऋषि, देवता, मनुष्य और पितृगण किस प्रकार के पथ को अवलम्बन करके सफल काम होंगे ॥२-३ ॥

कथं विभुर्गुणातीतो भवन्नपि सदा भवान् ।
जीवोपकारकरणे प्रत्तो भवति स्वयं ॥४॥

आप विभु और गुणातीत होने पर भी किस प्रकार जीवो के उपकारमें सदा स्वयं प्रवृत्त होते हैं ॥४॥

कस्मात्साधनतो लभ्यं भवत्सानिध्यमीप्सितम् ।
तत्सर्वे कृपया नूनमुपदिश्यमाहि प्रभो !॥५॥

किस साधन से अभिलषित आपका सान्निध्य प्राप्त हो सकता है, हे प्रभो ! कृपया अवश्य आप हमलोगों को इन सब बातों का उपदेश करें॥ ५॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ६॥

महाविष्णु बोले ॥ ६॥

देवाः ! मम यदा भक्ता मत्स्वरूपस्य तत्त्वतः ।
ज्ञातारः स्युस्तदा सर्वे ज्ञानिनस्तेऽधिकारिणः ॥ ७ ॥

पराभक्तर्भवेयुर्हि मां तदैव समीशते।
देशे काले च सर्वस्मिन पात्रे द्रष्टुं न संशयः ॥८॥

हे देवतागण ! मेरे भक्तगण जब मेरे स्वरूप को ठीक ठीक जान लेते हैं, तब वे सब ज्ञानी भक्त पराभक्ति के अधिकारी होते हैं और तब ही मुझको सब देश काल और पात्र में देखने में समर्थ होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥७-८॥

पराभक्तेः किन्तु यावन्न ते स्युरधिकारिणः।
तावन्मे सगुणस्यैव रूपस्योपासनां सदा ॥९॥

कुर्वन्तः कृतकृत्यत्वं विन्दन्ति गतकल्मषाः।
रागात्मिकाया भक्तेर्मे ये भक्ता अधिकारिणः ॥१०॥

लीलामयाऽवतारस्य मम ते प्रायशः सुराः ।
विविधायां हि लीलायामासक्ता विग्रहस्य मे ॥११॥

लीलामयस्य चोपास्त्या लभन्ते मां सुनिश्चितम् ।
मम यन्निगुणं रूपं सगुणं तहदेव हि ॥१२॥

लीलामयं विग्रहश्च सर्वमेकमुदीरितम् ।
अधिकारस्य भेदन भक्ता एव हि केवलं ॥१३॥

तारतम्यं निरीक्षन्त एषु रूपेषु मेऽमराः ।
पूर्णाशाऽऽवेशरूपादिरूपैर्हि विविधैः खलु ॥ १४ ॥

अहं हि लोके मायातोऽवतीर्य समये सुराः।
भक्तिं ददामि भक्तेभ्यो येन नन्दन्ति ते सदा ॥१५॥

परन्तु जबतक भक्त, पराभक्ति के अधिकारी न हो तब तक मेरे सगुण रूप की ही उपासना करते हुए निष्पाप होकर सदा कृतकृत्यता लाभ करते हैं। हे देवतागण! मेरी रागात्मिका भक्ति के अधिकारी भक्त प्रायः मेरे लीलामय अवतारों की विविध लीलाओं में आसक्त होकर मेरे, लीलामय विग्रह की उपासना करके मुझको निश्चय प्राप्त करते हैं। मेरे निर्गुण रूप, मेरे सगुण रूप और मेरे लीलामय विग्रह सब एक ही हैं। हे देवगण ! केवल अधिकार भेद से भक्तों को ही इन मेरे रूपों में नारतम्य दिखाई पड़ता है । हे

देवतागण ! मैं ही पूर्ण, अंश और आवेश आदि विभिन्न रूपों से समय समय पर जगत में मायावलम्बन से अवतीर्ण होकर भक्तों को भक्ति प्रदान करता हूँ जिससे वे सदा आनन्दित रहते हैं ॥९-१५ ॥

नैवात्र विस्मयः कार्यः सन्देहो वा कथञ्चन।
धर्मसंरक्षणं देवाः ! रोचते मे निरन्तरम् ॥ १६ ॥

हे देवतागण ! धर्म की निरन्तर रक्षा करना मुझको अत्यंत प्रिय है, इनमे किसी प्रकार कुछ भी संदेह या विस्मय नहीं करना चाहिए॥१६॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृति स्वामधिष्टाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥१७॥

जन्मरहित अविनश्वर और प्राणि मात्र का ईश्वर होकर भी मैं अपनी प्रकृतिपर अधिष्ठान करके अपनी माया के द्वारा उत्पन्न होता हूँ ॥१७॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति निर्जराः!।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥१८॥

हे देवगण ! जब जब धर्मपर ग्लानि और अधर्म का आधिक्य होता है उसी समय मैं आविर्भूत होता हूँ ॥१८॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥१९॥

साधुओं की रक्षाके लिये, दुष्कर्मकारियों के नाश के लिये और धर्मके संस्थापन के लिये मैं युग युग में अवतार धारण करता हूँ ॥१९॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽमराः! ॥२०॥

हे देवगण ! जो मेरे इस प्रकार के अलौकिक जन्म और कर्मको यथार्थरूपसे जानता है वह देहत्याग करके फिर जन्म ग्रहण नहीं करता है और मुझ को प्राप्त होता है ॥२०॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥२१॥

अनुराग, क्रोध्शून्य एवं मुझमें एकाग्रचित, मेरे आश्रित और ज्ञानरूपी तप से पवित्र अनेक साधक मेरे भाव को प्राप्त हुए हैं अर्थात् मुक्त हो गये हैं ॥२१॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वानुवर्तन्ते साधकाः सर्वशः सुराः ॥२२॥

जो मुझको जिस भावसे आश्रय करते हैं उनको मैं उसी भाव से आश्रय में रखता हूँ अर्थात् फल प्रदान करता हूँ। हे देवगण ! साधकलोग सब प्रकार से मेरे मार्ग का ही अनुसरण करते हैं ॥२२॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं लोके साधकानां सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥२३॥

कर्मकी सिद्धि चाहनेवाले साधक देवताओं की उपासना करते हैं । इस संसारमें साधकोंको कर्म सम्बन्धी सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है ॥२३॥

तबुद्धयस्तदात्मानस्तनिष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिधूतकल्मषाः ॥२४॥

परमात्मामें जिनके बुद्धि और चित्त लगे हुए हैं, उन्हीं में जिनकी निष्ठा है और उन्ही में जो परायण हैं एवं ज्ञानसे जिनके पाप नष्ट होगये हैं वह मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥२४॥

मम प्राप्त्यै सदा भक्ता आश्रयन्ति दिवौकसः! ।
भक्तिं भवमयीं योग क्रियात्मकमपि ध्रुवम् ॥२५॥

हे देवतागण ! मुझको प्राप्त करने के लिये उपासक सदा भावमयी भक्ति और क्रियामय योग का भी आश्रय अवश्य लेते हैं ॥२५॥

वैध्या रागात्मिका वै भक्तेरधिगमो मतः।
वैधी सा साधनाल्लभ्या श्रीगुरोरुपदेशतः ॥२६॥

वैधी भक्तिसे ही रोगात्मिका भक्तिकी प्राप्ति मानी गई है, वह वैधी भक्ति श्रीगुरूपदेश के अनुसार साधन करनेसे प्राप्त होती है ॥ २६ ॥

यदा चित्तलयं कर्तुमभ्यासो माय जायते ।
रागात्मिकायां भक्तौ हि तदा मज्जात सत्वरम् ॥२७॥

उन्मज्जति मुहुस्तद्वत् भाग्यवान साधकोत्तमः।
भक्तिरेषा पराभक्तेजननी वर्त्तते सुराः ! ॥२८॥

जब मुझमें चित्त लीन करने का अभ्यास हो जाता है तब मेरी रागात्मिका भक्ति में वह भाग्यवान् श्रेष्ठ साधक शीघ्र उन्मज्जन और निमज्जन बार बार करने लगता है। हे देवतागण ! यह भक्ति परामक्ति को उत्पन्न करनेवाली है ॥२७-२८॥

उपास्तेः प्राणरूपास्ति भक्तिर्हि मामकी सुराः।
क्रियायोगः शरीरं स्याचतुर्धा स प्रकीर्तितः ॥ २९ ॥

नाम्ना मन्त्रहठावेतौ लयराजौ तथैव च ।
आधिकारस्य भेदेन विज्ञेयास्ते सुरोत्तमाः !॥३०॥

हे देवगण ! मेरी भक्ति उपासनाकी प्राणरूपा और क्रिया योग शरीररूप है। हे देवश्रेष्ठो! क्रियायोग के भी अधिकार भेद से चार भेद हैं, वह मन्त्र, हठ लय और राज नाम से जानेजाते हैं। ॥२९-३०॥

गुरोर्वै कृपयेमानि लभ्यते साधकैर्धवम् ।
म्प्राप्तिसाधनानीति प्रवदन्ति मनीषिण: ॥३१॥

गुरुकृपा से ही मेरी प्राप्ति के इन साधनों को साधक निश्चय लाभ करते हैं, इस बात को पण्डितगण कहते हैं ॥३१॥

स्पर्शान कृत्वा बहिर्वाधान चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ ३२ ॥

यतेन्द्रिययमनोबूधिर्मुनिर्मोक्षपरायण: ।
विगतेच्छाभयक्रोधो य: सदा मुक्त एव स: ॥३३॥

रूप रसादि बाह्य विषयों को बाहर ही रखकर दृष्टि को दोनों भवों के बीच में रखकर नासिका के भीतर विचरण करने वाले प्राण और अपान वायु को समान करके अर्थात् समभाव से चलनेवाला बना कर इन्द्रिय मन और बुद्धिका संयम करनेवाला, मोक्षपरायण और इच्छा भय एवं क्रोधशून्य जो मुनि है वही सदा मुक्त है ॥३२-३३॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वभूतमहेश्वरम।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥३४॥

मुझे यज्ञों और तपस्या का भोक्ता, सकल लोकों का महान् ईश्वर और सकल प्राणिमात्र का सुहद् समझकर साधक मोक्ष को प्राप्त होता है ॥३४॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥३५॥

आत्माके द्वारा अर्थात् बुद्धि के द्वारा आत्मा का अर्थात् मन का उद्धार करना चाहिये, आत्मा को अर्थात् मन को नीचे नहीं गिरने दिया जान चाहिए क्योंकि मेरी ओर खिंचा हुआ आत्मा अर्थात् मन ही अपना अर्थात् साधक का बन्धु है और नीचे की ओर अर्थात् इन्द्रियादिक में खिंचा हुआ आत्मा अर्थात् मन हीं अपना अर्थात् साधक का शत्रु है ॥३५॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्जेतात्मैव शत्रुवत् ॥३६॥

जिस उपासक ने अपनी आत्मा अर्थात् बुद्धि के द्वारा मन को वशीभूत कर लिया है उसी की आत्मा अर्थात् मन अपना अर्थात् उपासक का बन्धु है; परन्तु अजितेन्द्रिय व्यक्ति की आत्मा अर्थात् बुद्धि ही शत्रुता में शत्रुवत् प्रवृत्त हुआ करती है। ॥३६॥

योगी युन्जीत सतत्तमात्मानं रहसी स्थित: ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥३७॥

योगी को उचित है कि सब समय एकान्त में अवस्थित रहकर एकाकी, संयतचित्त, संयतात्मा, इच्छाशून्य और परिग्रह शन्य होकर मन को समाहित करे ॥३७॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥३८॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यताचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युज्यादयोगमात्मविशुद्धये ॥३९॥

पवित्र स्थान में कुशासनके ऊपर मृगचर्म और उसके ऊपर रेशम का वस्त्र रखकर न बहुत ऊंचा और न बहुत नीचा आसन स्थिर करके और उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों की क्रिया को वशीभूत करते हुए उपासक को चित्तशुद्धि के निमित्त योगाभ्यास करना उचित है ॥३८-३९॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥४०॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारित्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥४१॥

देहका मध्यभाग मस्तक और ग्रीवा देशः सरल और निश्चल भाव से रखकर, स्थिर होकर अपनी नासिका के अग्रभाग का अवलोकन करते हुए एवं अन्य ओर का देखना छोड़कर प्रशान्तचित्त भयरहित और ब्रह्मचर्यमें अवस्थित होकर मन का दमन करते हुए मुझमें ही चित्त समर्पण करके मत्परायण होते हुए युक्त होकर अवस्थान करना उचित है ॥ ४०-४१ ॥

युजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतमानसः।
शांति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥४२॥

उक्त रूपसे सदा मन को दमन करनेवाला संयतचित्त योगी निर्वाण मुक्ति देने वाली एवं मुझमें रहने वाली शान्ति को प्राप्त करता है ॥४२॥

नात्यशंतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमंश्न्तः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चामराः ! ॥४३॥

परन्तु हे देवतागण ! अधिक भोजन करनेवाले को योगकी प्राप्ति नहीं होती और न निरन्तर उपवास करनेवाले को ही योगकी प्राप्ति होती

है, उसी प्रकार बहुत सोनेवाले को भी योग की प्राप्ति नहीं होती है और न बहुत जागने वाले को ही योगकी प्राप्ति होती है॥४३॥

युक्ता विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥४४ ॥

जो साधक नियमित आहार और विहार करते हैं और कर्मों को भी नियमाधीन होकर करते हैं, नियम के साथ निद्रित होते हैं और नियम के साथ जागते हैं उनका योगाभ्यास दुःख का नाश करनेवाला होता है॥४४॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥४५॥

जब चित्त विशेषरूप से संयत होकर आत्मा मे ही अवस्थान करता है तब सभी प्रकार की कामनाओं से निःस्पृह व्यक्ति युक्त कहलाता है ॥४५॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोमपा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युन्ज्स्तो योगमात्मनः ॥४६॥

जैसे वायुरहित स्थान में दीप विचलित नहीं हुआ करता, आत्मा के उद्देश्य से योग का अभ्यास करने वाले संयतात्मा योगी के अचञ्चल चित्त को ऐसा ही समझना चाहिये॥४६॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवसा ।
यत्र चैवात्मनातमाँ पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥४७॥

जिस अवस्था में योगाभ्यास द्वारा संयत चित्त उपरति को प्राप्त होता है और जिस अवस्था में आत्मज्ञान द्वारा आत्मा को देखते हुए आत्मा मे ही उपासक संतुष्ट हो जाता है वही योगावस्था है॥४७॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तबुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥४८॥

जिस अवस्थाविशेष में युक्त व्यक्ति उस अनिर्वचनीय अतीन्द्रिय और केवल बुद्धि से ग्रहण करने योग्य परम सुख का अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थित होने पर ही यथार्थरूप से वह अविचलित रहता है उसी अवस्था को योग कहते हैं ॥४८॥

यं लब्ध्या चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ ४९ ॥

जिस अवस्थामें अन्य सब अवस्थाओंके लाभको उस अवस्थासे अधिक न समझा जाय और जिस अवस्था में रहने से महादुःख भी विचलित न कर सके उस अवस्था को योग कहते हैं ॥४९॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥५०॥

जिस अवस्थाविशेषमें दुःखका सम्पर्क नहीं रहता है वही अवस्था योगशब्दवाच्य है और निर्विषण चित्त उसी ही योग का अभ्यास करना उचित है ॥५०॥

संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥५१॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥५२॥

संकल्प से उत्पन्न होनेवाली सभी इच्छाओको विशेष रूप से त्याग कर, मन के ही द्वारा इन्द्रियगण को सब विषयसमूह से विशेषरूप से रोक करके धारणा से वशीभूत की हुई बुद्धि द्वारा मन को आत्मा में निश्चलरूप से स्थापन करके क्रमशः उपराम को प्राप्त हो और कोई चिन्ता न रक्खे ॥५१-५२॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥५३॥

स्वभाव से चञ्चल और संयम करने पर भी चलायमान होने वाला मन जिस जिस विषय में जावे उस उस विषय से उसको खींच कर आत्मा मे ही स्थिर करना चाहिये ॥५३॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥५४॥

क्योंकि उक्त प्रकारसे रजोगुण से रहित प्रशान्तचित्त, निष्पाप और ब्रह्मभाव को प्राप्त योगी को परमसुख प्राप्त होता है ॥५४॥

युन्ज्नेव सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥५५॥

इस प्रकारसे सदा मनको ब्रह्ममें युक्त करता हुआ निष्पाप योगी अनायास ब्रह्म संस्पर्श रूपी सर्वोत्कृष्ट सुख को प्राप्त कर लेता है ॥ ५५ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥५६॥

योग के द्वारा समाहित चित्त और सर्वत्र समदर्शन करनेवाला वह योगी आत्मा को सर्वभूतों में अवस्थित देखता है और सर्वभूतों को आत्मा में देखता है ॥५६॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥५७॥

जो सर्वभूत में अवस्थित मुझको अद्वितीय रूप से आश्रय करके मेरी उपासना करता है, संसार में वर्तमान रहने पर भी वह योगी सर्वथा मुझमे ही अवस्थान करता है। ॥५७॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽमराः ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥५८॥

हे देवगण! जो अपनी उपमा से सब भूतो को समान देखता हैं और सुख दुःख को समान देखता है वह योगी श्रेष्ठ है, यही मेरी सम्मति है ॥५८॥

असंशयं सुपर्वाणः ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु भो देवाः ! वैराग्येण च गृह्यते ॥५९ ॥

हे देवगण ! मन दुर्निग्रह और चञ्चल है इसमें सन्देह नहीं; किन्तु हे देवगण ! अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन का निग्रह किया जाता है ॥५६॥

असंयतात्मना योगो दुष्पाप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥६०॥

जिसका चित्त संयत नहीं है मेरा मत है कि उसके लिये योग दुष्प्राप्य है; किन्तु गुरूपदिष्ट उपाय द्वारा संयतचित्त व्यक्ति यदि प्रयत्नशील हो तो योग को प्राप्त कर सकता है ॥६०॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ६१॥

सब योगियों में से भी जो श्रद्धावान् व्यक्ति मद्गतचित्त से मेरी उपासना करता है वह अतिश्रेष्ठ योगी है, यह मेरा मत है। ॥६१॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥६२॥

पापशील विवेकहीन नराधम व्यक्ति माया के द्वारा हतज्ञान होकर आसुरीभाव को प्राप्त होते हुए मुझको प्राप्त नहीं होते हैं ॥६२॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनो ननु।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च विबुधर्षभाः ॥६३॥

हे देवगण ! आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, यह चार प्रकार के पुण्यात्मा व्यक्ति मेरी उपासना करते हैं ॥६३॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिविशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥६४॥

इनमे से ज्ञानी सर्वदा मुझमें निष्ठावान् और एकमात्र मुझमें ही भक्ति रखने वाला होनेसे श्रेष्ठ है, क्योंकि मैं ज्ञानी भक्त का अतिप्रिय हूँ और वह भी मेरा प्रिय है। ॥६४॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥६५॥

ये सब ही महान हैं परन्तु ज्ञानी मेरा ही स्वरूप है, यह मेरा मत है; क्योंकि वह ज्ञानी भक्त मुझमें एक चित्त होकर सर्वोत्तम गतिस्वरूप मुझको ही आश्रय करता है ॥६५॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान मां प्रपद्यते ।
परमात्मा सर्वमिति स महात्मा मुर्लभः ॥६६॥

बहुत जन्म ग्रहण करनेके बाद ज्ञानवान् व्यक्ति "यह चराचरः विश्व ही परमात्मस्वरूप है " ऐसा अनुभव करके मुझको प्राप्त होता है, ऐसा महात्मा जगत में दुर्लभ है ॥६६॥

कामैस्तैस्तैहिनज्ञानाः पद्यन्ते किलेतरान् ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥६७॥

सांसारिक अनेक प्रकार की कामनाओ से हतज्ञान व्यक्ति अनेक प्रकार के नियमों का अवलम्बन करके अपनी प्रकृति को नियमित करते हुए ही औरों की (देवतादिकी) उपासना करते रहते हैं। ॥६७॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥६८॥

जो जो भक्त जिस जिस मूर्ति की श्रद्धापूर्वक उपासना करने की इच्छा करता है, मैं उस उस भक्त की उस उस मूर्ति में वैसी ही दृढ़श्रद्धा विधान करता हूँ ॥६८॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान हितान् ॥६९॥

वह भक्त उस श्रद्धा से युक्त होकर उस मूर्ति की आराधना करता है और तदनन्तर मेरे ही द्वारा सम्पादित हितकारी उन सकल कामनाओं का लाभ करता है॥६९॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
अन्यानन्ययजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥७०॥

परन्तु उन क्षुद्रबुद्धि व्यक्तियों का वह फल विनाशशील है क्योकि औरो की उपासना करने वाले अन्य लोको को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं ॥७०॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापनं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ ७१ ॥

अल्पबुद्धि व्यक्ति मेरे नित्य सर्वोत्तम और परमस्वरूप को न जानकर, मैं अव्यक्त अर्थात् मायातीत हूँ, तब भी मुझको व्यक्तिभाव को प्राप्त समझते हैं ॥७१॥

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मरतामराः ।
मय्यर्पितमतिस्वान्ता मामसंशयमेष्यथ ॥ ७२॥

इस कारण हे देवतागण ! सर्वदा मुझको स्मरण करना चाहिए, मुझमें मन और बुद्धि को अर्पण करने पर निःसन्देह आपलोग मुझको प्राप्त होगे ॥७२॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पूरुषं दिव्यं भक्तो यात्यनुचिन्तयन् ॥७३॥

अभ्यास योग द्वारा एकाग्र और अनन्यगामी चित्त से चिन्ता करते करते साधक दिव्य परमपुरुष को प्राप्त होता है ॥७३॥

कविं पुराणमनुशासितार मणोरणीयांसमनुस्मरेदयः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्ण तमसः परस्तात् ॥७४॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥७५॥

कवि (सर्वज्ञ)पुराण (अनादि) अनुशासिता (नियन्ता) सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम, सबका पालन करनेवाला, अचिन्त्यरूप, प्रकृति से परे स्थित, सूर्य के समान वर्णवाले पुरुष का, शरीरत्याग के समय

भकियुक्त होकर स्थिर चित्र से योगबलद्वारा भ्रूयुगल के मध्य में प्राणवायु को भलीभांति स्थिर करके जो ध्यान करता है वह उस दिव्य परमात्मस्वरुप पुरुष को प्राप्त होता है ॥७४-७५॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरान्ति तद्वः पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥७६॥

ब्रह्मागण जिसको अक्षर कहते हैं, वीतराग यतिगण जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसको जानने की इच्छा करके साधक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हैं मैं आपलोगों को वह पद संक्षेप से कहता हूँ ॥७६॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हदि निरुध्य च ।
मून्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ॥७७॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति सजन देहं स याति परमां गतिम् ॥७८॥

सब इन्द्रियो को उनके विषयो से प्रत्याहरण करके मन को हृदय में स्थिर करके और मूर्द्धा अर्थात् सहस्रार में अपने प्राण को रखकर योगधारणा में स्थिर होता हुआ और ॐ इस एकाक्षर ब्रह्मस्वरूप मन्त्र का उच्चारण करता हुआ मुझको स्मरण करके स्थूल देह को त्याग करके जाता है वह परमगति रूपी मुक्तिपद को प्राप्त करता है। ॥७७-७८॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरात नित्यशः।

तस्याहं सुलभो देवाः ! निसयुक्तस्य योगिनः ॥७९॥

अनन्य चित्त होकर जो मेरा सब समय नियमित रूप से चिन्तन करता है, हे देवतागण ! नित्ययुक्त उस योगी के लिये मैं सुलभ हूँ॥७९॥

मामुपेय पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥८०॥

महात्मागण मुझको प्राप्त करके पुनः त्रिताप के आलयरूप अनित्य जन्म को प्राप्त नहीं होते क्योंकि वह परासिद्धि रूपी मोक्ष को प्राप्त हुए हैं ॥८०॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽमराः।
मामुपेत्य तु गीर्वाणाः ! पुनर्जन्म न विद्यते ॥८१ ॥

हे अमरगण ! ब्रह्मलोकसे भी आकर सबलोग पुनः पुनः जन्म ग्रहण करते हैं परन्तु हे देवतागण ! मुझको प्राप्त करके पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती है ॥८१॥

अवजानन्ति मां मूढाः सगुणां तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥८२॥

मोघाश मोघकर्मणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीश्चैव प्रकृति मोहिनीं श्रिताः ॥ ८३ ॥

बुद्धिभ्रंशकारी आसुरी और राक्षसी प्रकृति को धारण करनेवाले, विफलाशाकारी, विफल कर्मा, अध्यात्मज्ञानरहित, विषय से चंचल चित्त मूर्ख व्यक्तिगण सर्वभूतों के महेश्वररूपी मेरे परमभाव को न

जानकर मुझको सगुण देहधारी देखकर मेरी अवज्ञा करते हैं ॥८२-८३॥

महात्मानस्तु मां देवा:! दैवीं प्रकृतिमिश्रता: ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ ८४ ॥

परन्तु हे देवतागण ! दैवीप्रकृतियुक्त महात्मागण अनन्यचित्त होकर मुझको जगत कारण और नित्य स्वरूप जानकार मेरी उपासना किया करते हैं ॥ ८४॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्तया नित्ययुक्ता उपासते ॥८५॥

उनमें से कोई कोई सर्वदा मेरा कीर्तन करते हैं, कोई कोई दृढ़निमय से युक्त होकर प्रयत्नशील होते हैं, कोई कोई भक्ति के साथ प्रणाम करते हैं और कोई कोई नित्ययुक्त होकर मेरी उपासना करते हैं। ॥८५ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥८६॥

अन्य कोई कोई ज्ञानयज्ञ द्वारा भी पूजा करके मेरी उपासना करते हैं, उनमेंसे कोई कोई अभेदभाव से, कोई कोई दासभाव से और कोई कोई मुझे सनात्मक जानकर नाना प्रकार से पासना करते हैं ॥८६॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेम वहाम्यहम् ॥८७॥

अन्य देवताओंकी उपासनान करके मुझे ही स्मरण करते हुए जो उपासना करते हैं, उन नित्य मत्परायण
आवश् विषयों को) को मैं वहन करता हूँ ॥८७॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥८८॥

जो मुझको भक्तिपूर्वक पत्र पुष्प फल और जल अर्पण करता है मैं उस संयतात्मा द्वारा भक्ति पूर्वक अर्पित वे पत्र पुष्पादि ग्रहण करता हूँ ॥८८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या माये ते तेषु चाप्यहम् ॥ ८९॥

मैं सकल भूतों में समानरूप से अवस्थित हूँ अतः मेरा प्रिय और द्वेष्य कोई नहीं है किन्तु जो मेरी भक्तिपूर्वक उपासना करते हैं वह मुझमें स्थित हैं और मैं भी उनमें स्थित हूँ ॥८९॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यगव्यवसितो हि सः॥९०॥

यदि अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी अनन्य-भक्तियुक्त होकर मेरी उपासना करे तो उसको भी साधु ही मानना चाहिये क्योंकि वह उत्तम यत्न कर रहा है ॥९०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
हे देवाः ! खलु जानीत न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ९१ ॥

अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी मेरी उपसना करने पर शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और निरंतर शांति को प्राप्त करता है हे देवगण ! मेरा भक्त नाशको नहीं प्राप्त होता है, यह तुम निश्चय जानो ॥९१॥

मां हि देवाः ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥९२॥

क्योंकि हे देवगण ! पापयोनिसम्भूत स्त्रियां वैश्य और शूद्र चाहे कोई भी हो मेरा आश्रय लेकर परम गति को प्राप्त होते हैं ॥९२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकं भजध्वामिममेत्य माम् ॥९३॥

सुकृतिशाली ब्राह्मण और भक्तिमान् राजर्षिगण की तो बात ही क्या है अतः तुम इस कष्टप्रद और अनित्य लोक को प्राप्त होकर मेरी उपासना करो ॥९३॥

मन्मनस्काः स्त मे भक्ता याजिनो नमताऽमराः!।
मामेवैष्यथ युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणाः ॥९४॥

हे देवगण ! आपलोग मद्गतचित्त, मेरे भक्त और मेरे उपासक होकर और मुझे नमस्कार करो, इस प्रकार मत्परायण होकर मन को मुझ में ही युक्त करने से मुझको ही प्राप्त होगे ॥९४॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां निसं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९५॥

जिनका चित्त केवल मुझ में ही रत है और जिनका प्राण केवल मेरे में ही अर्पित है, ऐसे व्यक्ति परस्पर मेरे स्वरूप का ज्ञान कराते हुए एवं सदा मेरा कीर्तन करते हुए सन्तोष और शान्ति को प्राप्त होते हैं ॥९६॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥९६॥

सदा मुझ में अर्पित चित्त एवं प्रीतिपूर्वक मेरी उपासना करने वाले उन भक्तो को मैं उस बुद्धियोग (ज्ञान को प्रदान करता हूँ जिससे वह मुझ को प्राप्त हो जाते हैं। ॥९६॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥९७॥

उनके हित के अर्थ ही मैं उनकी बुद्धिवृत्ति में अवस्थित होकर प्रकाशमान तत्त्वज्ञानरूप दीप द्वारा उनके अज्ञान रुपी अन्धकार का नाश करता हूँ ॥९७॥

मय्यावश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥९८॥

मुझमें मन को एकाग्र करके, सर्वदा मुझमें युक्त रहकर एवं परम श्रद्धान्वित होकर जो मेरी उपासना करते हैं वे मेरी सम्मति में युक्ततम अर्थात् प्रधान योगी हैं॥९८॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमाचन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥९९॥

सनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ १०० ॥

किन्तु सर्वत्र समबुद्धियुक्त जो व्यक्ति इन्द्रियों को अच्छी तरह से संयत करके अनिर्वचनीय, रूपादिविहीन, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, स्थिर,नित्य, अविनाशी कूटस्थकी उपासना करते हैं, सकलभूतों के हितकारी वह व्यक्ति मुझे ही प्राप्त होते हैं। ॥९९-१००॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं प्राणभृद्भिरवाप्यते ॥ १०१ ॥

अव्यक्त में जिनका चित्त आसक्त हुआ है उनको अधिक परिश्रम करना पड़ता है क्योंकि मेरे अव्यक्तरूप में निष्ठा प्राणियों को कठिनता से प्राप्त

ये तु सर्वाणि कर्माणि मायि सन्न्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥१०२॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरादेवाः ! मय्यावेशितचेतसाम ॥१०३॥

किन्तु जो एकान्त भक्ति योग द्वारा सब कर्म मुझमें अर्पण करके मत्परायण होकर मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं हे देवगण ! मैं मृत्युयुक्त संसार समुद्र से मुझमें निवेशित चित्त उन भक्तों का शीघ्र उद्धार करता हूँ ॥१०२-१०३ ॥

मय्येव मन आधद्ध्वं माय बुद्धिर्निवेश्यताम्।
निवसिष्यथ मय्येव अत ऊर्दध्वं न संशयः ॥१०४॥

मुझ में ही मन स्थिर करो और मुझ में ही बुद्धिसंनिवेश करो तो इससे आगे मुझमे ही निवास करोगे इसमें सन्देह नहीं है ॥१०४॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नुथ मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन तत इच्छताप्तुं सुराः ! हि माम् ॥१०५॥

हे देवगण ! यदि मुझमें चित्तको स्थिर न रख सको तो अभ्यासयोग द्वारा मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा करो॥१०५॥

अभ्यासेऽप्यसमथर्मे भूयतां कर्म्मतत्परैः।
मदर्थमपि कर्माणि कुद्धिः सिद्धिरेष्यते ॥१०६॥

यदि अभ्यास करने में भी असमर्थ हो तो मेरे कर्मों में निरत हो, केवल मेरे लिये ही सब कर्मों को करते हुए भी सिद्धि को प्राप्त होगे॥१०६॥

अथैतदप्यशक्ताः स्थ क मदद्योगमाश्रिताः।
सर्वकर्मफलत्यागं यतात्मानो विधत्त वै ॥१०७॥

यदि इसके करने में भी असमर्थ हो तो एकमात्र मेरे शरणागत और संयतचित्त होकर सब कर्मों के फलों का त्याग करों ॥१०८॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां भैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १०८ ॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यार्पतमनोबुद्धियों मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१०९॥

समस्त प्राणियों का, अद्वेष्टा, मित्र और कृपालु, ममताहीन, निरहङ्कार, सुख दुःख में समता समझनेवाला, क्षमावान, सदा सन्तुष्ट, संयतचित्त योगी मेरी ओर स्थिर लक्ष्य रखनेवाला, और मुझमें मन और बुद्धिको समर्पण करनेवाला जो मेरा भक्त है वह मेरा प्रिय है ॥१०८-१०९॥

यस्मानोद्विजते लोको लोकानोद्विजने च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः म च मे प्रियः ॥११०॥

जिसके द्वारा संसार उद्विग्न नहीं होता है, जो संसारसे उद्विग्न नहीं होता है और जो हर्ष अमर्ष (अन्य को लाभ होनेसे कातर होना) भय और चित्तक्षोभ से रहित है वह मेरा प्रिय है ॥११५॥

अनपेक्षः शुचिर्दन उदासीनो गतव्यथः ।
सर्बारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१११॥

सकल विषयों में निःस्पृह, शुचि, चतुर, उदासीन, जिसको व्यथा नहीं होती, और सब सङ्कल्पों का त्याग करनेवाला जो मेरा भक्त है वह मेरा प्रिय है ॥११६॥

यो न हृष्यति न द्दष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान यः स मे प्रियः ॥११२॥

जो प्रसन्न नहीं होता है, द्वेष नहीं करता है, शोक नहीं करता है, आकांशा नहीं करता है, पाप पुण्योंका परित्याग करनेवाला है और मुझमें भक्तिमान् है वह मेरा प्रिय है ॥११२॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥११३॥

तुल्यनिन्दास्तुतिौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान मे प्रियो हि सः ॥ ११४ ॥

जो शत्रु और मित्र में एवं मान और अपमान में एकरूप रहता है, शीत उष्ण और सुख दुःखों में विकारहीन है, निःसंग है, निन्दा और प्रशंसा में समभावापन्न है, मौनी (मन को दमन करनेवाला) है, जो कुछ मिल जाए उससे सन्तुष्ट है, वासस्थानहीन है, स्थिरचित्त है और भक्तिमान् है वह मेग प्रिय है ॥११३-११४॥

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥११५॥

जो लोग इस उक्त अमृतरूप धर्म का अनुष्ठान करते हैं, वह श्रद्धाशील मत्परायण भक्तगण मेरे अतिप्रिय हैं ॥११५॥

इति श्रीविष्णुगीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रं
देवमहाविष्णुसंवादे भक्तियोगवर्णनम् नाम पंचमोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योग शास्त्र में देव महाविष्णु सम्वादात्मक भक्तियोगवर्णन नामक पांचवां अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्री विष्णवे नमः॥

॥ श्री विष्णु गीता ॥

अथ षष्ठोऽध्याय : छठा अध्याय

ज्ञानयोगवर्णनम्

देवा ऊचुः॥१॥

देवतागण बोले ॥१॥

निशम्य नितरां नाथ ! पराराव्य ! जगद्गुरो!।
रहस्यं भक्तियोगस्योपासनायास्तथादभूतम् ॥२॥

कृतार्थाः स्मो वयं सम्यक करुणावरुणालय!।
भूयोऽपि श्रोतुमिच्छामस्त्वत्तो ज्ञानमयीं गिरम् ॥३॥

आराध्य और उपासना का अद्भुत रहस्य अविच्छिन्न रूप से सुनकर हमलोग अच्छी तरह कृतकृत्य हुए। हम फिर भी ज्ञानवार्ता को आप से सुनना चाहते हैं ॥२-३॥

श्रूयते हि जगन्नाथ ! ज्ञानमेवास्ति कारणम् ।
मुक्तेरतो दयासिन्धो ! सादरं प्रार्थयामहे ॥४॥

गूढं ज्ञानस्वरूपं यद्रहस्यञ्चापि दुर्गमम् ।
वैदिकज्ञानकाण्डस्य ज्ञानाज्ञानविनिर्णयम् ॥५॥

ज्ञानिनां लक्षणञ्चैव प्रतिपाद्य प्रभोऽधुना ।
आत्मज्ञानोपदेशेन चित्ते शान्ति विधत्स्व नः ॥६॥

हे जगन्नाथ ! हमने सुना है कि ज्ञान ही मुक्ति का कारण है, इस कारण हे दयासिन्धो! हम सविनय प्रार्थना करते हैं कि ज्ञान का गूढ़ स्वरूप, वेद के ज्ञानकाण्डका दुर्गम रहस्य, ज्ञान और अज्ञानका लक्षण और ज्ञानी का लक्षण भी कहकर तथा हे प्रभो! आत्मज्ञान का उपदेश देकर हमारे चित्त में अब शान्ति प्रदान कीजिए ॥४-६॥

महाविष्णुरुवाच ॥७॥

महाविष्णु बोले ॥७॥

तटस्थञ्च स्वरूञ्च द्विविधं ज्ञानमीरितम् ।
ज्ञानं यद्धि स्वरूपाख्यं स्वरूपं तन्ममैव वै ॥८॥

ज्ञान दो प्रकारका कहागया है, स्वरूपज्ञान और तटस्थज्ञान। स्वरूपज्ञान मेरा ही स्वरूप है ॥८॥

पराभक्तिप्रवीणेन समाधौ निर्विकल्पके ।
ज्ञानिना शान्तचित्तेन यद्भक्तेनानुभूयते ॥९॥

जो निर्विकल्प समाधि में पराभक्ति में प्रवीण, शान्तचित्त ज्ञानी भक्त के अनुभव में आता है ॥९॥

ज्ञानं तद्धि स्वरूपाख्यं सच्चिदानन्दरूपकम् ।
देवाः ! जानीत तन्नूनमवाङ्मनसगोचरम् ॥१०॥

वह स्वरूप ज्ञान सच्चिदानन्दमय है। हे देवगण ! उसको अवश्य मन वचन से अतीत जानना चाहिए ॥१०॥

द्वारीकृत्य तटस्थाख्यं ज्ञानमेव तु केवलम् ।
जिज्ञासुर्लभते नूनं योगयुन्जानमानसः ॥११॥

आत्मानात्मविवेकं हि कुर्वाणो मामसंशयम् ।
तटस्थाख्यं हि यज्ज्ञानं तत्र यद्यपि वर्तते ॥ १२ ॥

ज्ञातुर्ज्ञानस्य सम्बन्धो ज्ञेयस्यापि दिवौकसः।
तत्तथापि समाख्यातं स्वरूपज्ञानकारणम ॥१३॥

केवल तटस्थज्ञान के द्वारा ही योगाभ्यासनिरत जिज्ञासु आत्मा और अनात्मा का विचार करता हुआ ही निसन्देह मुझको प्राप्त होता है । हे देवगण ! तटस्थज्ञान, ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय रूपी त्रिपुटि से युक्त होने पर भी स्वरूपज्ञान-प्राप्ति का कारण कहा गया है ॥ ११-१३॥

ज्ञानस्यास्य तटस्थस्य तिस्रो भूम्यः प्रकीर्तिताः ।
आद्यायां भूमिकायान्तु तत्त्वज्ञानी दिवौकसः ! ॥ १४ ॥

जगतश्च जगाग्तातुर्ज्ञानं लब्ध्वानुमानिकम।
ज्ञानभूम्यां विशालकायां स्त्यग्रे न संशयः ॥१५॥

इस तटस्थज्ञानकी तीन भूमिकाएँ कहीगई हैं। हे देवगण ! प्रथम भूमिका में तत्वज्ञानी जगत और जगत्कर्ता का अनुमानिक ज्ञान प्राप्त करके विशाल ज्ञानभूमि में निःसंदेह अग्रसर होता है। ॥१४-१५॥

अत्रव ज्ञानभूमौ ही योगी भोगपरागमुख ।
वैराग्यं विषयान्नूनं लभते च विषोपमात् ॥१६॥

इसी ज्ञानभूमिमें योगी भोगपराङ्मुख होकर विषतुल्य विषयोसे वैराग्य को भी निःसन्देह ही प्राप्त होता है ॥१६॥

योगी भूमौ द्वितीयायां क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोस्तथा ।
सम्यगज्ञानमवाप्नोति नास्त्यत्र प्रच्युतर्भयम् ॥१७॥

दूसरी भूमि के क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का सम्यक ज्ञान प्राप्त करता है और इस भूमि में योगी के लिए पतन का भय नहीं है ॥ १७ ॥

भूमिकायां तृतीयायां योगी योगसमुन्नतः ।
मदीयाद्वैतसत्तां हि ज्ञानेनानुभवन् किल ॥१८॥

मत्स्वरूपाग्रगो देवाः ! भवन् विगतकिल्विषः।
भूत्वा योगपदारूढो लभते कृतकृत्यताम् ॥१९ ॥

हे देवगण ! तीसरी भूमि में योगसमुन्नत योगी मेरी अद्वैत सत्ता का ज्ञान के द्वारा ही अनुभव करता हुआ निष्पाप होकर मेरे स्वस्वरूप की ओर अग्रसर होता हुश्रा योगारूढ़ होकर कृतकृत्यता को प्राप्त करता है ॥ १८-१९॥

एतदेव फलं भूमेस्तृतीयाया दिवौकसः।
अन्तिमं हिं विनिर्दिष्टं तत्त्वज्ञानविशारदः ॥२०॥

हे देवगण ! इस तीसरी भूमि का यही अंतिम फल तत्वज्ञान विशारदों ने कहा है ॥२०॥

द्विधा मत्प्रकृतिभिन्ना विद्ययाऽविद्यया तथा।
अविद्या कारणं सृष्टेबन्धनस्यापि जायते ॥ २१ ॥

मेरी प्रकृति के दो भेद हैं, विद्या और अविद्या। अविद्या सिष्टि और बंधन का कारण होती है ॥२१॥

साहाय्येन तु विद्याया योगी मुक्तोऽथ बन्धनात् ।
देवाः ! सृष्टेलयं कुर्वन् क्षिप्रं मामेति निश्चितम् ॥ २२ ॥

और विद्या की सहायता से योगी बन्धन से मुक्त होकर हे देवगण ! सृष्टि का विलय करता हुआ शीघ्र मुझको ही प्राप्त होता है ॥२२॥

अमानित्य मदम्भित्वमहिंसा क्षन्तिर्राजवम ।
आचार्योपासनं शौच स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥२३॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥२४॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यश्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपतिषु ॥२५॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥२६॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥२७॥

आत्मश्लाघाराहित्य, दम्भहीनता, परपीड़ात्याग, सहिष्णुता, सरलता, गुरुसेवा, अन्तःशुचिता और बहिःशुचिता, स्थिरता, मनः संयम, विषयों में वैराग्य, अहङ्काररराहित्य, जन्म मृत्यु जरा और व्याधि दुःख और दोष का अनुदर्शन अर्थात् स्पष्ट उपलब्धि, पुत्र स्त्री गृह आदि में अनासक्ति और उनके सुख दुःखमें सुखी दुःखी न होना, इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति होने पर सर्वदा चित्त की समानता, मुझमें अनन्य योग (सर्वत्र समष्टि) द्वारा अव्यभिचारिणी (अनन्य) भक्ति निर्जन स्थानमें रहना, लोकसमाज में वैराग्य, आत्मज्ञानपरायणता और तत्त्वज्ञानके फल (मोक्ष) का दर्शन, ये ज्ञान के लक्षण कहे जाते हैं इनसे विपरीत जो लक्षण हैं, वह सभी अज्ञान के लक्षण हैं ॥२३-२७॥

निश्चितं वच्मि वो देवाः ! श्रीगुरोर्दयया विना ।
किञ्चित् कदापि कुत्रापि कथञ्चिन्नैव लभ्यते ॥ २८ ॥

हे देवतागण ! मैं आप लोगों को निश्चय करके कहता हूँ कि बिना श्रीगुरुकृपाके कभी भी कहीं भी किसी प्रकारसे भी कुछ भी प्राप्त नहीं होता है।॥२८॥

आत्मज्ञानोपलब्धौ हि हेतुरस्ति गुरोः कृपा ।
आत्मज्ञानन्तु मत्माप्तौ कारणं नात्र संशयः ॥२९॥

आत्मज्ञान प्राप्ति का कारण गुरु कृपा ही है और मुझे प्राप्त करने का कारण आत्मज्ञान है, इसमें सन्देह नहीं॥२९॥

तद्विद्ध्त मणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्निबो ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥३०॥

प्रणिपात, जिज्ञासा और गुरुसेवा के द्वारा उस ज्ञान का लाभ करोतत्त्वदर्शी ज्ञानिगण तुमको ज्ञानका उपदेश देंगे॥३०॥

यजज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यथ निर्जराः ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यथात्मन्यथो मयि ॥ ३१ ॥

हे देवगण ! जिस ज्ञान के जान लेने से पुनः इस प्रकार के मोह को नहीं प्राप्त होगे। और जिसके द्वारा भूतगण को आत्मा में और अनन्तर मुझमें सब कुछ देख सकोगे ॥३१॥

अपि स्थ यदि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमाः।
सर्व ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यथ ॥ ३२ ॥

यदि सकल पापियों से भी तुम अधिक पापी हो तो भी सम्पूर्ण पापरूप समुद्र को ज्ञान रूपी जहाज द्वारा सम्यक रूप से पार कर सकोगे ॥३२॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निभस्मसात्कुरुतेऽमराः ! ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३३ ॥

हे देवगण ! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठ समूह को भस्मसात् करती है उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि सकल कर्मों को भस्मसात् कर देती है ॥३३॥

नहि ज्ञानेन सद्रशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धाः कालेनाऽऽत्मनि विन्दथ ॥३४॥

क्योंकि इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र और कोई नहीं है, योगद्वारा सिद्धि प्राप्त होने पर उस आत्म ज्ञान को यथासमय अपने में स्वयं प्राप्त करोगे ॥३४॥

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाऽधिगच्छति ॥३५॥

श्रद्धावान् तत्परायण और जितेन्द्रिय व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है और ज्ञान को प्राप्त करके अतिशीघ्र परमशान्ति (मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥३५॥

अज्ञश्चाश्रधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नाऽयं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयान्मनः ॥३६॥

अश्रद्धालु संशयात्मा और मूढ़ व्यक्ति नाश को प्राप्त होता है। संशयात्मा व्यक्ति के लिये इहलोक और परलोक दोनों कष्टप्रद होते हैं और उसको सुख प्राप्त नहीं होता है ॥३६॥

योगसन्नस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयानम ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति दिवौकसः ! ॥३७॥

हे देवगण ! जिस व्यक्ति ने योग द्वारा सकल कर्मों को आत्मा में अर्पण किया है और जिसने आत्मज्ञान द्वारा सकल संशय छिन्न कर दिये हैं ऐसे आत्म ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति को कर्म बन्धन नहीं कर सकते हैं ॥३७॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठत बुभुत्सवः ! ॥३८॥

अत: हे जिज्ञासु देवगण ! अपने अज्ञान से उत्पन्न हृदयस्थ संशय को ज्ञानरूप खड्ग द्वारा छेदन करके इस योग का अवलम्बन करो॥३८॥

नादत्ते कस्याचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
आज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥३९॥

ईश्वर किसी का भी पाप ग्रहण नहीं करते हैं और पुण्य भी ग्रहण नहीं करते हैं। अज्ञानके द्वारा ज्ञान आच्छन्न है इसी कारण जीवधारी मोहित होते हैं अर्थात् इन्द्रियासक्त होते हैं ॥३९॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेपामादियवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ ४० ॥

किन्तु आत्म ज्ञानके द्वारा जिनका वह अज्ञान नष्ट होजाता है, सूर्य जिस प्रकार अन्धकार को नाश करके सकल वस्तुओं को प्रकाशित कर देता है। उसी प्रकार उनका वह ज्ञान परमात्मा को प्रकाशित कर देता है ॥४०॥

विद्याविनयसम्पने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ ४१ ॥

विद्या और विनयसम्पन्न ब्राह्मणपर और चाण्डाल पर एवं गौ हाथी और कुत्ते पर ज्ञानीगण समदर्शी हुआ करते है ॥४१॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मादब्रह्मणि ते स्थिताः॥ ४२ ॥

जिनका मन समभाव में स्थित है, संसार में रहकर ही उन्होंने संसार को जीत लिया है क्योंकि समान और निर्दोषरूप से ब्रह्म व्यापक हैं अतः वह ब्रह्म भाव में स्थित रहते हैं ॥४२॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्याप्य चाऽप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविदब्रह्मणि स्थितः ॥ ४३ ॥

ब्रह्मभावमें अवस्थित, स्थिरबुद्धि और मोहहीन ब्रह्मवेत्ता व्यक्ति प्रियवस्तु पाकर हर्षित नहीं होता है और अप्रिय वस्तु पाकर विषादयुक्त नहीं होता है॥४३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥४४॥

आत्मभाव ही जिसको सुखबोध होता है आत्मभाव में ही जिसको आमोद होता है और आत्मभाव की ओर ही जिसकी दृष्टि है वह योगी ब्रह्मभाव में स्थित होकर ब्रह्मनिर्धाण अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है॥४४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥४५॥

पाप जिनके क्षीण हो गये हैं, संशय जिनके छिन्न हो गये हैं, जिनका अन्तःकरण संयमशील है और सकल प्राणिमात्र का हित करने में जो तत्पर हैं ऐसे ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं॥४५॥

काम क्रोध वियुक्ताना यतीनां यातचेतसाम ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥४६॥

कामक्रोधरहित संयमी और आत्मतत्वज्ञ यातिगण के लिए सर्वत्र ही मोक्ष है, अर्थात वह देहांत होने पर ही
मुक्त होते हैं ऐसा नहीं है, देह रहते हुए भी वे मुक्त ही हैं ॥ ४६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानाषमानयोः ॥४७॥

केवल जितेन्द्रिय और प्रशांत अर्थात रागादिशून्य व्यक्ति का आत्मा अर्थात अंत:करण शीत उष्ण, सुख दुःख, और मान अपमान में अचल रह सकता है ॥४७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
मुक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥४८॥

जिसका चित्त ज्ञान और विज्ञान द्वारा आकांक्षाहीन है जो कूटस्थ अर्थात् निर्विकार है, वह जितेन्द्रिय है और जिसकी मिटटी के ढेले में,

पत्थर में और सुवर्ण में समदृष्टि है ऐसा योगी मुक्त कहा जाता है॥४८॥

सुहृन्मित्राय्युर्दासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुप्वपि च पापेपु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥४९॥

सुहृत् (स्वभावतः हितैषी) मित्र (स्नेहवशतः हितैषी) अरि (धातुक) उदासीन (विवाद करने वाले दोनों पक्षों की उपेक्षा करने वाला) मध्यस्थ (विवाद करनेवाले दोनों पक्षों का हितैषी) द्वेष्य (द्वेष करने योग्य व्यक्ति) बन्धु (सम्बन्ध युक्त व्यक्ति) साधु और यहां तक कि पापियों पर भी जो समबुद्धि रखने वाला है वही योगियों में प्रधान है॥४९॥

मय्यासक्तमनस्का हि युजाना योगमाश्रिताः ।
यथा ज्ञास्यथ पूर्ण मां तथा शृणुत निश्चितम् ॥ ५० ॥

मुझमे आस्क्तिचित्त होकर, योग के आश्रय से अभ्यास करते हुए जिस प्रकार से मुझे पूर्णरूप से निश्चयपूर्वक जान सकोगे उनको सुनो ॥५०॥

जानं वोऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥५१॥

मैं आपलोगों को विज्ञानसहित इस ज्ञान को सम्पूर्ण रूप से कहूँगा जिसके जान लेने से जगत में फिर कुछ जानने का विषय अवशेष नहीं रहता है॥५१॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥५२॥

हजारों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि के लिये यत्न करता है और अनेक यत्न करनेवाले सिद्धों मेले भी कोई एक वास्तवतः मेरे स्वरूपको जानता है॥५२॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टया ॥५३॥

पृथिवी जल तेज वायु श्राकाश मन बुद्धि और अहङ्कार इन आठ प्रकार के भेदों से युक्त मेरी प्रकृति है ॥५३॥

अपग्यमितस्त्वन्यां प्रकृति वित मे पराम् ।
जीवभूतां मुपर्वाणो ययेदं धार्यते जगत् ॥५४॥

यह अपरानाम्नी है। हे देवगण ! इस अपरा प्रकृति से भिन्न मेरी परानाम्नी जीवस्वरूपा एक प्रकृति है ऐसा जानो, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है अर्थात् जो जगद्धारिका है ॥५४॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधार्यताम ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः मलयस्तथा ॥५५॥

इन्हीं दो प्रकार की मेरी प्रकृतियो से पंचभूतमय सकल जगतकी उत्पत्ति हुई है ऐसा जानो, मैं सकल जगत का परमकारणस्वरूप और प्रलय स्थान हूँ ॥५५॥

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति दिवौकसः।।

माय सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥५६॥

हे देवगण ! मुझसे परे और कुछ नहीं है। सूत्रमें मणियों के समान मुझमें यह समस्त जगत् आश्रित है। ॥५६॥

इदं गुह्यतमं वश्चाऽनुसूयुभ्यो वेऽधुना ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज़्ज्ञान्वा मोक्ष्यथाशुभात् ॥५७॥

अब मैं यह परमगुप्त विज्ञान सहित ज्ञान भी तुम दोषदृष्टि हीनों को कहता हूँ जिसको जानकर तुमलोग सकल पापोंसे मुक्त हो जाओगे ॥५७ ॥

इदं शरीरं भो देवाः! क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं पाहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥५८॥

हे देवगण यह शरीर क्षेत्र नामसे अभिहित होता है और इस क्षेत्र को जो जानता है उसको तत्त्वज्ञानी क्षेत्रज्ञ कहते हैं॥५८॥

क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां वित्त सर्वक्षेत्रेषु निर्जगः।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज़्ज्ञानं मतं मम ॥५९॥

और हे देवगण ! सब क्षेत्रों में भी मुझको क्षेत्रज्ञ जानो । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वह ज्ञान मेरा अभिमत है॥५९॥

तत् क्षेत्रं यच्च याहक च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तच्छृणुध्वं समासतः ॥६०॥

जो क्षेत्र है वह जो है जैसा है जिन जिन विकारों से युक्त है और जिससे उत्पन्न है एवं वह क्षेत्र भी जो है और जिस प्रभाव का है वह संक्षेप से सुनो ॥६०॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक ।
ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमाद्भिर्विनिश्चितै: ॥६१॥

जो ऋषियों से ब्रह्मसूत्र के पदों से और युक्तियुक्त तथा विनिश्चित पृथक् पृथक विविध वैदिक मन्त्रों से अनेक प्रकार से निरूपित है (उसको संक्षेप से कहता हूँ) ॥६१॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्त मेंव च ।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चन्द्रियगोचराः ॥६२॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६३॥

पंच पृथिव्यादि महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, मूल प्रकृति, दश इन्द्रियां एक मन और इन्द्रियों के विषय (शब्दस्पर्शादि) पंच तन्मात्रा, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (शरीर), चेतना (मनोवृत्ति) और धैर्य यह विकारयुक्त क्षेत्र संक्षेपसे कहा गया है॥ ६२-६३ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥६४॥

जो ज्ञेय है उसको कहूँगा जिसको जानकर (साधक) मोक्ष प्राप्त करता है। वह अनादि परब्रह्म सत् भी नहीं कहे गये हैं और असत् भी नहीं कहे गये हैं ॥६४॥

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥६५॥

वह (ब्रह्म) सर्वत्र पाणि, पाद, नेत्र, मस्तक, मुख और कर्ण विशिष्ट होकर संसा रमें सबको आवृत करके ठहरे हुए है ॥६५॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम ।
असक्तं सबभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्त च ॥६६॥

वह सभी इन्द्रियों के गुणों के आभास से विशिष्ट, सब इन्द्रियों से रहित, संगशून्य, सभी के आधारभूत, गुणो से रहित और गुणों के भोक्ता हैं॥६६॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
मूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च यता॥६७॥

जो जीवों के बाहर और भीतर है, चर भी हैं और अचर भी हैं, सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय हैं तथा जो दूर भी हैं और समीप भी हैं ॥६७॥

अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥६८॥

जो भूतों में अविभक्त होने पर भी विभक्त की भांति अवस्थित हैं और वह प्राणियों के पालक, संहारक तथा उत्पादक भी हैं ऐसा जानना चाहिए ॥६८॥

ज्योतिपामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥६९॥

वह ज्योतियों की भी ज्योति है और अज्ञान से परे स्थित कहे जाते हैं तथा वे ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञान से प्राप्त करने योग्य और सबके हृदय में अवस्थित हैं ॥६९॥

इति क्षेत्र तथा ज्ञानं शेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मदावायोपपद्यते ॥ ७० ॥

इस प्रकार से क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय संक्षेप से कहे गये । मेरा भक्त इनको जानकर ब्रह्मत्व प्राप्ति के योग्य होता है।॥७०॥

प्रकृति पुरुषं चैव वित्तानादी उभावपि ।
विकाराँश्च गुणाँश्चैव वित्त प्रकृतिसम्भवान ॥ ७१ ॥

प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको ही अनादि जानो और (देह इन्द्रिय आदि) विकार एवं (सत्त्व आदि) गुणो को प्रकृति से उत्पन्न समझो। ॥७१॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिमच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते !! ॥७२॥

कार्य और कारण के कर्तृत्व में प्रकृति हेतु कही गई है और पुरुष सुख दुःखों के भोक्तृत्व में हेतु कहा गया है ॥७२॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुन्ज्यते प्रकृतिजान गुणान ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥७३॥

क्योंकि पुरुष प्रकृतिस्थ होकर प्रकृति से उत्पन्न सब गुणों को भोगता है किन्तु इस पुरुष के सत् एवं असत् योनियो में जन्म होने का कारण गुणों (सत्त्व आदि) का सङ्ग है ॥७३॥

उपद्रष्टानुऽमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥७४॥

इस देह में (वर्तमान भी) पुरुष (इससे) परे अर्थात् पृथक् हैं क्योंकि वह साक्षिमात्र, अनुग्रहकर्ता, पोषणकर्ता, प्रतिपालक और महेश्वर हैं ॥७४॥

य एवं वेत्ति पुरुष प्रकृतिञ्च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥७५॥

जो इस प्रकार से पुरुष को और गुणों के साथ प्रकृतिको जानता है वह किसी प्रकार से अथवा किसी अवस्था में वर्तमान रहने पर भी पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता है। ॥७५॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरं ॥७६॥

कोई कोई ध्यानयोग से आत्माको बुद्धिके द्वारा देह में देखते हैं, अन्य कोई ज्ञानयोग के द्वारा और कोई (निष्काम) कर्मयोगके द्वारा आत्माको देखते हैं। ॥७६॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्यु श्रुतिपरायणाः ॥७७॥

किन्तु अन्य कोई कोई इस प्रकार से अर्थात सांख्ययोग आदि के द्वारा आत्मा को नहीं जानते हुए अन्य अर्थात् गुरु आचार्य आदि से सुनकर उपासना करते हैं वह भी श्रुतिपरायण होकर मृत्यु को अतिक्रमण करते ही हैं ॥७७॥

यावत्संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि विबुधर्षभाः !॥७८॥

हे देवश्रेष्ठों ! जो कुछ स्थावर या जंगम जीव उत्पन्न होते हैं वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से त्पन्न होते हैं सो जानो ॥७८॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥७९ ॥

सब जीवों में संभाव से अवस्थित और सब जीवों के विनाश होते रहने पर भी अविनाशी जो परमात्मा हैं उनको जो देखता है वही देखता है। ॥७९॥

सम पश्च्यन ही सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥८०॥

क्योंकि सब भूतोंमें समभाव से अवस्थित परमात्मा को देखता हुआ साधक अपने से अपने को हनन नहीं करता है इसलिये वह परागति अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होता है । ॥८० ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥८१॥

प्रकृति ही सब प्रकार के कार्यों को करती है और आत्मा अकर्ता है, इस प्रकार जो देखता है वही देखता है ॥८१॥

यदा भूतपृथगभावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥८२॥

जब भूतो के पृथक भाव को एकस्थ अर्थात् एक हीं ब्रह्म में अवस्थित देखता है और उसी एक से भूतों का विस्तार देखता है तब वह ब्रह्म हो जाता है॥८२॥

अनादित्वानिर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि भो देवाः ! न करोति न लिप्यते ॥८३॥

हे देवगण ! यह परमात्मा अनादि और निर्गुण होने के कारण अविकारी हैं इसलिये शरीर में रहने पर भी न करते हैं और न फलों से लिप्त होते हैं ॥८३॥

यथा सर्वगतं सौम्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ८४ ॥

जिस प्रकार सभी मे विद्यमान आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार देह में सर्वत्र अवस्थित परमात्मा (देह धर्म से) लिप्त नहीं होते हैं ॥८४॥

यथा प्रकाशयत्येक: कृत्सनं लोकमिम रवि: ।
क्षेत्र क्षेत्री तथा कृत्सनं प्रकाशयति निर्जरा ! ॥८५॥

हे देवगण ! जिस प्रकार एक सूर्य्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है उसी प्रकार क्षेत्री अर्थात् क्षेत्र
आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र अर्थात् महाभूतादि विशिष्ट शरीरों को प्रकाशित करता है ॥८५॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमंतरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षश्च ये विर्दुयान्ति ते परम ॥८६॥

इस प्रकार से जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का प्रभेद एवं जीवों की प्रकृति से मुक्ति ज्ञान नेत्र से जानते हैं वह परमपद को प्राप्त होते हैं ॥८६॥

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥८७॥

मैं पुनः सब ज्ञानों में उत्तम परम ज्ञान अर्थात् परमात्म सम्बन्धी ज्ञान कहूँगा जिसको जानकर सब मुनिगण इस देह बन्धनसे (मुक्त होकर) परा सिद्धि अर्थात् मोक्षको प्राप्त हुए हैं। ॥८७॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ ८८॥

इस ज्ञान को पाकर मेरे स्वरूपत्व को प्राप्त होते हुए वह मुनिगण सृष्टिकाल में भी उत्पन्न नहीं होते और न प्रलयकाल में प्रलय का दुःख अनुभव करते हैं ॥८५॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भ दधाम्यहं ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवाति निन्जर्राः ! ॥८९॥

हे देवगण ! महद्ब्रह्म अर्थात् मूलप्रकृति मेरी योनि अर्थात गर्भाधान का स्थान है, उसी में मैं गर्भाधान करता हूँ उससे सब भूतों की अर्थात् ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति होती है। ॥८९॥

सर्वयोनिषु भो देवाः ! मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥९०॥

हे देवगण ! सब योनियों में जो स्थावर जङ्गम रूपी मूर्तियां उत्पन्न होती हैं महद्ब्रह्म अर्थात् मूलप्रकृति उनकी योनि अर्थात् मातृस्थानीय है और मैं बीजप्रद गर्भाधान कर्ता पिता हूँ ॥९०॥

पंचैतानि सुरश्रेष्ठा ! कारणानि निबोधत ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥९१॥

हे सुरश्रेष्ठो! सभी कर्मों की सिद्धिके लिये ज्ञान प्रतिपादक शास्त्र में कहे हुए वक्ष्यमाण पांच कारणों को जानो ॥९१॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥९२ ॥

इस संसारमें अधिष्ठान शरीर कर्ता अहङ्कार अनेक प्रकार के करण चक्षुरादि इन्द्रियां नानाविध चेष्टा अर्थात् प्राण अपान आदि की क्रियाएँ और देव पाचवां है ॥९२॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभ्यते खलु ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चेते तस्य हेतवः ॥९३॥

शरीर, वाक और मन द्वारा जो धर्म अथवा अधर्म कर्म किया जाता है, पूर्वोक्त ये ही पांच उसके हेतु हैं ॥९३॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलन्तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्याति दुर्मतिः ॥९४॥

ऐसा होनेपर उक्त विषय में जो व्यक्ति केवल (निःसङ्ग) आत्मा को कर्ता समझता है, अनिर्मल बुद्धि होनेके कारण वह दुर्मति देख नहीं सकता है अर्थात् यथार्थदर्शी नहीं है ॥ ९४॥

यस्य नाऽहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य लिप्यते।
हत्वाऽपि स न इमान् लोकान् न हन्ति न निवध्यते ॥९५॥

जिसको " मैं कर्ता हूँ" यह भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि (इष्टानिष्ट कर्म में) लिप्त नहीं होती है वह इन सब लोको को नाश करके भी नहीं नाश करता है और बन्धन को प्राप्त नहीं होता है ॥९५॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगादिवौकसः।
अन्विच्छताश्रयं बुद्धौ कृपणाः फलहेतवः ॥९६॥

हे देवगण ! ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग अत्यंत ही निकृष्ट है इसलिये आपको ज्ञानयोग के आश्रय की इच्छा करनी चाहिए, फलके चाहनेवाले व्यक्ति कृपण अर्थात् निकृष्ट होते हैं ॥९६॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागृति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥९७॥

अज्ञानाच्छन्न समस्त प्राणियों के लिये जो रात्रि है अर्थात् वह वे आत्माको नहीं देख सकते हैं उस रात्रि में जितेन्द्रिय व्यक्ति जागता है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार करता है और जिस (विषयबुद्धि) में जीवगण जागते हैं अर्थात् जगत को सत्य अनुभव करते हैं वह आत्मतत्त्वदर्शी मुनि के लिये रात्रिके समान है अर्थात् उसकी विषयों की ओर दृष्टि नहीं रहती है ॥९७॥

प्रजहाति यदा कामान् देवाः ! सर्वान् मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्यदोच्यते ॥९८॥

हे देवगण ! परमानन्द स्वरुप आत्मा में ही स्वयं तुष्ट होकर जब (योगी) मनोगत सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥९८॥

दुःखेष्वनुद्विगनमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनीरुच्यते ॥९९॥

जिसका मन दुःखों में उद्विग्न नहीं होता है, सुखों में जिसकी स्पृहा नहीं है और जिसके राग, भय एवं क्रोध दूर होग ये हैं वह मुनि 'स्थितधी' कहा जाता है ॥९९॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दात न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥१००॥

जो सब विषयों में ममताशून्य होकर उस उस शुभ और अशुभको प्राप्त करके न आनन्दित होता है और न विषादयुक्त होता है उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है अर्थात् प्रकृष्टरूप से ब्रह्म में स्थित रहती है ॥ १०० ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभयस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता ॥१०१॥

जब यह (योगी) इन्द्रियों के सभी विषयों से इन्द्रियों को, कछुपा जैसे अङ्गो को खींच लेता है उसी प्रकार सर्वथा खींच लेता है तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। ॥१०१॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥१०२॥

जो इन्द्रिय द्वारा विषय ग्रहण नहीं करता है ऐसे देहधारी व्यक्ति के विषय निवृत्त हो जाते हैं किन्तु भोगाभिलाषा निवृत्त नहीं होती है; परन्तु परमात्मा के साक्षात्कार होने पर उसकी वह विषयभोग की अभिलाषा भी निवृत्त हो जाती है ॥१०२॥

यततो ह्यपि हे देवाः ! साधकस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥१०३॥

क्योंकि हे देवगण ! यत्न करते हुए विद्वान् साधक के भी मन को प्रमाथी अर्थात् क्षोभ उत्पन्न करने वाले इन्द्रियगण हठात् खींच लेते हैं ॥१०३॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥१०४॥

योगी को उन सभी इन्द्रियों को संयत करके आत्मपरायण होकर रहना चाहिए क्योंकि जिसकी इन्द्रियां वश में हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है ॥१०४॥

ध्यायतो विषयानस्य सङ्गःस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥१०५ ॥

विषयों की चिन्ता करने वाले योगी की आसक्ति विषयों में होजाती है और आसक्ति से काम उत्पन्न होता है एवं काम से क्रोध उत्पन्न होता है ॥ १०५ ॥

क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृति भ्रन्शादबुद्धिनाशो बुद्धिनाशात प्रणश्यति ॥१०६॥

क्रोध से सम्मोह होता है, सम्मोह से स्मृतिविभ्रम, स्मृति करे भ्रष्ट होने से बुद्धि का नाश और बुद्धि के नाश से जीव नष्ट हो जाता है अर्थात अत्यंत रूप से पतित हो जाता है ॥१०६॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन ।
आत्मवश्यैविधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥१०७॥

किन्तु राग द्वेष से रहित आत्म वसीभूत इन्द्रियों क्र द्वारा विषयभोग करने पर जिसका मन वशीभूत है, ऐसा व्यक्ति आत्मप्रसाद अर्थात शान्तिलाभ करता है ॥ १०७॥

प्रसादे सर्व्दु:खानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥१०८॥

आत्मप्रसाद प्राप्त करनेपर योगी के सब दुःख नष्ट हो जाते हैं क्योंकि प्रसन्नचित्त व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र प्रतिष्ठित अर्थात् आत्मनिष्ठ होजाती है ॥ १०८॥

नास्ति बुद्धि युक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥१०९॥

ब्रह्म में अयुक्त व्यक्ति की आत्म विषयिणी बुद्धि नहीं होती है, अयुक्त व्यक्ति को भावना अर्थात् आत्मविषयक ध्यान भी नहीं होता है, आत्मध्यानविहीन व्यक्ति को शान्ति नहीं मिलती और शान्तिहीन व्यक्ति के लिये मोक्षानन्द रूप सुख कहाँ ? ॥१०९॥

इन्द्रियाणा ही चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञा वायु वमिवाम्भसि ॥११०॥

क्योंकि जिस प्रकार वायु असावधानी वश कर्णधारवाली नौका को जल में डुबा देता है उसी प्रकार इन्द्रियां जिस ओर जाती हैं उसी ओर जो मन चला जाता है वह मन योगीकी प्रज्ञाको (विषयमें) खींच लेता है॥११०॥

तस्माद्यस्य सुरश्रेष्ठाः : निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥१११॥

इसलिये हे सुरश्रेष्ठों ! जिसकी इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार से निगृहीत हैं उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है ॥१११॥

देवा ऊचुः॥ ११२॥

देवतागण बोले ॥ ११२ ॥

ज्ञानाधार ! दयागार ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन !।
रहस्यं ज्ञानकाण्डस्य वैदिकस्य तदद्भुतम् ॥११३॥

श्रुत्वा साम्प्रतमज्ञानान्मुक्ता जाता वयं विभो ।
किन्तु संश्रूयते नाथ ! कश्चिज्जीवो न चाहति ॥११४॥

सन्न्यासेन विना मुक्तिमधिगन्तुं कदाचन ।
सन्यासलक्षणंचातद्रहस्यंच हे प्रभो ॥११५॥

ब्रूहि यह कृतार्था हि भवामसत्वरितं वयं ।
प्राप्नुम: परमात्मानं भवंत चैव मुक्तिदम ॥११६॥

हे ज्ञानाधार ! हे दयासिन्धो ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्वभावन ! वैदिक ज्ञानकाण्ड के इस अद्‌भुत रहस्य को सुनकर हे विभो! हम इस समय प्रज्ञानमुक्त हुए हैं परन्तु हे नाथ! सुना है कि बिना संन्यास के कोई जीव कभी मुक्त नहीं हो सकता इसलिए हे प्रभो ! सन्यास क्या है और इसका रहस्य क्या है वह कहिये जिससे हम शीघ्र कृतकृत्य होवें तथा परमात्मा और मुक्तिदाता, स्वयं आपको प्राप्त कर सकें ॥११३-११६॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ११७ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ११७ ॥

सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥११८॥

कर्मत्याग और कर्मयोग दोनों मोक्षदायक हैं किन्तु उनमें कर्म सन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है ॥११८॥

ज्ञेयः स नित्यसन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि सुपर्वाणः ! मुखं बन्धाद्विमुच्यते ॥११९॥

जो न द्वेष करता है और न आकांषा करता है उसको नित्य सन्यासी अर्थात् कर्म के अनुष्ठान काल में भी सन्यासी जानना उचित है क्योंकि हे देवगण ! राग द्वेषादि द्वन्द्व से रहित व्यक्ति अनायास बन्धन से छूट जाता है॥११९॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ १२० ॥

साङ्ख्य और योग अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोग पृथक् हैं इस बात को अज्ञानी कहते हैं, पण्डित ऐसा नहीं कहते क्योंकि एक का सम्यक् आश्रय करनेवाला भी दोनों का फल प्राप्त करता है ॥१२०॥

यत्सान्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यञ्च योगच यः पश्यति स पश्यति ॥ १२१ ॥

जो स्थान साङ्ख्य से प्राप्त होता है वह योगसे भी प्राप्त होता है, जो साङ्ख्य और योग को एक देखता है वह देखता है अर्थात् वह यथार्थदर्शी है ॥१२१॥

सन्यासस्तु मुरश्रेष्ठाः ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिब्रह्म नचिरेणाऽधिगच्छति ॥१२२ ॥

हे सुरश्रेष्ठो ! कर्मयोग के बिना सन्यास का प्राप्त करना दुःसाध्य है किन्तु योगयुक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ १२२ ॥

योगयुक्तो विशुद्ध आत्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वनपि न लिप्यते ॥ १२३ ॥

विशुद्धचित्त, विजितमन, जितेन्द्रिय और सब भूतोकी आत्मा ही जिसकी आत्मा है ऐसा योगयुक्त व्यक्ति कर्म करता हुआ भी कर्म में बद्ध नहीं होता है ॥१२३॥

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो प्रन्येत तत्ववित् ।
पश्यन् शृग्वन्स्पृशन जिघनश्नन् गच्छन्स्वपन श्वसन ॥१२४॥

प्रलपन् विसृजन गृहन्नुन्मिपन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥१२५॥

ब्रह्म मेंयुक्त तत्त्ववित् व्यक्ति दर्शन, श्रवण, स्पर्श, घ्राण, भोजन, गमन, निद्रा, श्वास, भाषण, त्याग, ग्रहण, उन्मेष और निमेष करता हुआ भी, इन्द्रियगण इन्द्रिय के विषयों में प्रवृत्त होते हैं ऐसी धारणा करता हुआ मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ऐसा समझता है॥१२४-१२५॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१२६॥

जिस प्रकार पनपत्र जल में लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार कर्मों को ब्रह्म में समर्पित और फलासक्ति त्याग करके जो कर्म करता है वह पाप अर्थात् बन्धन करने वाले कर्मों से लिप्त नहीं होता है ॥१२६॥

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते मुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन न कारयन् ॥ १२७ ॥

जितेन्द्रिय देही विवेक युक्त मन के द्वारा सब कर्मों का त्याग करके नव द्वारों से युक्त पुर में अर्थात् स्थूल शरीर में नहीं कुछ करता हुआ और नहीं कुछ कराता हुआ सुखपूर्वक रहता है ॥१२७॥

अनाश्रितः कुर्मफलं कार्य कर्म करोति यः ।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः॥१२८॥

जो कर्मफलका आश्रय नहीं करके कर्तव्य कर्म करता है वही सन्यासी है और वही योगी है। निरग्नि अर्थात् अग्निसाध्य ईष्टादि कर्म त्यागी और अक्रिय (पूर्त्यदिकर्म रहित) व्यक्ति सन्यासी नहीं होता है ॥१२८॥

यत्कुरुध्वे यद्श्नीथ यज्जूहुध्वे छ दत्थ यत ।
यत्तपस्यथ भो देवाः! तत्कुरुध्वं मदर्पणम् ॥ १२९ ॥

हे देवगण ! आपलोग जो कर्म करते हैं, जो भोजन करते हैं, जो होम करते हैं, जो दान देते हैं और जो तपस्या करते हैं उसको मुझमें अर्पण करें ॥१२९॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यध्वे कर्मबन्धनैः ।
सन्यासयोगयुक्ता हि विमुक्ता मामुपैष्यथ ॥१३०॥

ऐसा करनेसे शुभ और अशुभ फल देनेवाले कर्मबन्धनों से आप छूट जाओगे क्योंकि आप लोग मुझ में फल समर्पण रूपी संन्यास योग मे युक्त होने के कारण विमुक्त होकर मुझको प्राप्त करोगे ॥१३०॥

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥१३१॥

दूरदर्शी पण्डितलोग काम्यकर्मों के त्याग को सन्यास कहते हैं और सभी कर्मों के फलों के त्याग को त्याग कहते हैं ॥१३१॥

त्याज्यं दोषवादत्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥१३२॥

कोई कोई पण्डितलोग दोषयुक्त कर्म को त्याज्य कहते हैं और कोई यज्ञ, तप और दान त्याज्य नहीं है ऐसा कहते हैं ॥१३२॥

श्रूयतां निश्चयस्तत्र त्यागे मेऽमृतभोजिनः!।
त्यागो हि विबुधश्रेष्ठाः ! त्रिविधः परिकीर्तितः ॥ १३३॥

हे अमृतभोजी देवश्रेष्ठो ! उस त्यागके विषयमें मेरा निश्चय सुनो। त्याग तीन प्रकारका कहागया है ॥१३३॥

यज्ञदानतपाकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ १३४ ॥

यज्ञ, तप और दान ये तीन कर्म त्याग करने के योग्य नहीं हैं, यह निश्चय ही कर्तव्य हैं, यज्ञ तप और दान विवेकियों को भी पवित्र करनेवाले हैं ॥१३४॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे देवाः ! निश्चितं मतमुत्तमम ॥१३५ ॥

किन्तु हे देवगण ! ये कर्म भी आसक्ति और फल का त्याग करने योग्य हैं यह मेरा निश्चित ही उत्तम मत है ॥१३५॥

न द्वेष्टयकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१३६॥

सत्त्वगुण शाली मेधावी संशयरहित त्यागी व्यक्ति अकुशल (दुःखजनक) कर्म में द्वेष नहीं करता है और न कुशल (सुखकर) कर्म में आसक्त होता है॥१३६॥

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं काण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥१३७॥

क्योंकि देहधारी विशेषरूप से कर्मों का त्याग नहीं कर सकता है किन्तु जो कर्म के फलको त्याग करता है वह त्यागी कहलाता है ॥१३७॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविध कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां कचित् ॥१३८॥

इष्ट, अनिष्ट और मिश्र अर्थात् इष्टानिष्ट, यह कर्म का त्रिविध फल सकाम व्यक्तियों को परलोक में होता है किन्तु सन्यासियों को कहीं भी नहीं होता है॥१३८॥

सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निवोधत ।
समासेनैव भो देवाः ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ १३९ ॥

हे देवगण ! नैष्कर्म्यसिद्धि-प्राप्त व्यक्ति जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होता है और जो चरम ज्ञान है उसको संक्षेप से ही सुनो ॥१३९॥

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन विषयाँस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥१४०॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥१४१॥

अहङ्कारं बलं दर्प कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१४२॥

विशुद्ध-बुद्धियुक्त होकर धैर्य के द्वारा बुद्धि को संयत करके शब्दादि विषयो का त्याग करके और राग द्वेष को दूर करके निर्जनस्थान वासी एवं मितभोजी होकर शरीर वाणी और मन को संयत करके सदाशान योग में तत्पर होता हुआ वैराग्य का भलीभांति आश्रय करके अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग करके ममता शून्य होकर शनी व्यक्ति ब्रह्म ही हो जाता है ॥ १४०-१४२॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु सन्यासं लभते परम् ॥१४३॥

ब्रह्मभूत और प्रसन्नचित्त व्यक्ति नष्ट वस्तुओं के लिये आकांशा नहीं करता है, सब भूतों में समभावापन्न होकर श्रेष्ठ सन्यासको प्राप्त होता है ॥ १४३ ॥

मां सन्यासेन जानाति यावान् यश्चाऽस्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥१४४॥

मैं जिस प्रकार का और जो हूँ सो यथार्थरूप से सन्यास के द्वारा वह जानता है और मुझको यथार्थरूपसे जानकर अनन्तर मुझमें प्रवेश कर जाता है। ॥१४४॥

सर्वकर्माणयपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय: ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ १४५ ॥

सर्वदा सब प्रकारका कर्म करता हुआ भी मत्परायण व्यक्ति मेरे अनुग्रह से सनातन नित्यपद को प्राप्त होता है । ॥१४५॥

चेतसा सर्व्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्ताः स्यात सर्वथा ॥ १४६ ॥

आप लोग चित्त से सब कर्मों को मुझमें अर्पण करके मत्परायण होकर बुद्धियोग का आश्रय लेकर सर्वथा अपने चित्त को मुझमें लीन कर लीजिये। ॥१४५॥

इति श्रीविष्णुगीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रं
देवमहाविष्णुसंवादे ज्ञानयोगवर्णनं नाम षष्ठोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योग शास्त्र में देव महाविष्णु सम्वादात्मक ज्ञानयोगवर्णन नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्री विष्णवे नमः॥

॥ श्री विष्णु गीता ॥

अथ सप्तमोऽध्याय : सातवाँ अध्याय

विश्वरूपदर्शनयोगवर्णनम्

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

देवतागण बोले ॥१॥

सर्वलोकाश्रयश्रेष्ठ ! परमात्मन् ! जगद्गुरो !।
त्वत्प्राप्तिमुख्यहेतोहि ज्ञानकाण्डस्य हे प्रभो !॥२॥

रहस्यं मुक्तिदं जाता गृण्वतां नः कृतार्थता ।
भूयोऽपि श्रोतुमिच्छामो मधुरां ते गिरं हिताम् ॥३॥

हे सर्वलोकाश्रयश्रेष्ठ ! हे प्रभो ! हे परमात्मन् ! हे जगद्गुरो! आपकी प्राप्ति के प्रधान कारण रूप ज्ञानकाण्ड का मुक्तिप्रद रहस्य सुनकर हमलोग कृतार्थ हुए। हम फिर भी आपकी मधुर और हितकरी वाणी को सुनना चाहते हैं ॥ २-३॥

कस्मिन रूपे भवन्त हि चिन्तयन्तो वयं विभो ।
शक्नुमोऽनुपलं लब्धं भवन्तं ज्ञानदायिनम् ॥४॥

हे विभो ! किस रूप में आप ज्ञानदाता को चिन्तन करने से हम लोग हर समय आपको प्राप्त करने में समर्थ होंगे ॥४॥

अशेषं वर्णयित्वेदमस्मानाश्वासय प्रभो ।
भवता साम्प्रतं नाथ ! कृपयाऽसीमया यतः ॥ ५॥

नानाज्ञानमयैर्वाक्यैः कृतकृया वयं कृताः।
अतो न विरहं सोढुं शक्ष्यामः क्षणमप्युत ॥६॥

हे प्रभो ! इस विषय को पूर्णतया वर्णन करके हमें आश्वासन दीजिये क्योंकि हे नाथ! इस समय आपने जो असीम कृपा करके अनेक ज्ञानमय उपदेशों हमलोगों को कृतकृत्य किया है इसलिये हमलोग आपके विरह को क्षणभर भी सहन नहीं कर सकेंगे ॥ ५-६ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ७ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ७॥

अपि वः श्रद्धया भक्त्या प्रसन्नोऽस्मि दिवौकसः ।
भवद्यः साम्प्रतं दिव्यं ज्ञाननेत्रं ददाम्यहम् ॥८॥

यूयं यज्ज्ञाननेत्रेण स्थातुं शक्ताः सुरर्षभाः ।
चेद्विज्ञानमये कोषे तदा भवितुमर्हथ ॥९॥

कृतकृत्या अनाद्यन्तं दृष्ट्वा नित्यस्थितं विभुम् ।
रूपं स्थूलादपि स्थूलं ममैतद्धि प्रतिक्षणम् ॥१०॥

हे देवगण ! आप लोगों की श्रद्धा और भक्ति से मैं प्रसन्न हूँ, अब मैं आप लोगों को दिव्य ज्ञाननेत्र प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा हे सुरश्रेष्ठों ! आप यदि विज्ञानमय कोष में स्थित रह सकोगे तो मेरे इस अनादी अनंत नित्यस्थित विभु स्थूलतीस्थूल रूप को हर समय दर्शन करके कृतकृत्य हो सकोगे॥८-१०॥

व्यास उवाच ॥११॥

व्यासदेव बोले ॥ ११ ॥

ततो ज्ञान निधिर्मान्यो महाविष्णुर्दयाणव ।
दिव्यं ज्ञानमयं चक्षुर्देवेभ्यो दत्तवान् प्रभुः ॥१२॥

तब करुणासागर ज्ञाननिधि और मान्य प्रभु महाविष्णु ने देवताओं को ज्ञानमय दिव्य चक्षु प्रदान किया ॥१२॥

सर्वे देवास्तदानीम्बै स्थिराङ्गाः स्थिरलोचनाः।
स्माधिस्था भवन्तो ही विस्मिर्ताश्च विशेषतः ॥१३॥

बुद्धरतीतं जीवानामवाङ्मनसगोचरम् ।
विरारूपञ्च पश्यन्तस्तुष्टुवुस्ते तदद्भुतम् ॥१४॥

तब वे सब देवगण स्थिर गात्र और स्थिर नेत्र होकर समाधिस्थ और विशेष विस्मित होते हुए जीवों के मन वचन और बुद्धि से अतीत उस अद्भुत विराटरूप का दर्शन करते हुए स्तुति करने लगे ॥ १३-१४॥

देवा ऊचुः ॥ १५॥

देवतागण बोले ॥१५॥

देवादिदेव ! त्वदचिन्त्यदेहे आद्यन्तशून्ये प्रसमीक्ष्य नूनम् ।
देवानृषीन् पितृगणाननन्तान पृथक स्थितान् विस्मयमावहामः ॥१६॥

हे देवादिदेव ! हम लोग आपके अनादि अनन्त और अचिन्त्य देह में अनन्त देवसमूह, ऋषिसमूह और पितृसमूह को पृथक पृथक् स्थित देखकर अवश्य ही विस्मित हो रहे हैं ॥ १६॥

तवैव देहादभुवनानि देव ! चतुर्दशैतेषु निवासिनो हि ।
देवाश्च दैत्याश्च मनुष्यसङ्का उचतुर्विधा भूतगणाश्च सर्वे ॥१७॥

जाताः पृथक सन्ति चतुर्दशस्त्रहो यान्यत्र नाशं भुवनैनिःसमम्।
संपश्यतामीदृशमद्भुतं प्रभो ! बुद्धिर्ममे मजति नः समाकुला ॥१८॥

हे देव ! आपके ही देह से चतुर्दश भुवन और इनके निवासी देव, दैत्य, मनुष्यसमूह और सब चतुर्विध भूतसङ्घ उत्पन्न हुए हैं, चतुर्दश भुवनों में पृथक पृथक हैं और अहो! अपने लोकों के साथ इसी (आपके देह में) नाश को प्राप्त होते हैं। हे प्रभो ! इस प्रकार आश्चर्यको देखते हुए हमलोगो की बुद्धि व्याकुल होकर भ्रम में मग्न होती है ॥१७-१८॥

देवाश्च ये स्थूलशरीरमानिनो विशन्ति ते सूक्ष्मशरीरमानिषु ।
देवास्तु ये मूक्ष्मशरीरमानिनो विशन्त्यहो कारणकायमानिषु ॥१९॥

अहो ! जो स्थूल देहाभिमानी देवतागण हैं वे सूक्ष्म देहाभिमानी देवताओं में प्रवेश करते हैं और जो सूक्ष्म देहाभिमानी देवतागण हैं वे कारण देहाभिमानी देवताओ में प्रवेश करते हैं ॥१९॥

इमे तु सर्वे प्रविशन्त्यचिन्त्ये महामभावे कच तन्न विद्मः।
दृष्ट्वेदृशं तेऽद्भुतकार्यमीश ! वयं विमुग्धाः खलु ते प्रभावात् ॥२०॥

किन्तु ये सब किस अचिन्त्य महाप्रभाववान् में प्रवेश करते हैं सो हमलोग नहीं समझ रहे हैं। हे ईश ! इस प्रकार आपका अद्भुत कार्य देखकर आपके प्रभाव से हम लोग विमुग्ध हो रहे हैं ॥२०॥

साचिन्त्यशक्तिर्भवतो धुवा किम ? या वांगमनो बुद्धिभीर प्रमेया।
त्वत्तो जनित्वा निजगर्भमध्ये लोकान् धरत्येव चतुर्दशालम ॥२१॥

क्या वह नित्या अचिन्त्य शक्ति आपकी है? वाणी मन और बुद्धि से अगोचर जो शक्ति आप से ही उत्पन्न होकर चतुर्दश लोकों को अपने गर्भ में भलीभांति धारण करती है ॥२१॥

ब्रह्माण्डयप्येवमनन्तपिण्डमयश्च सर्ग धरते सदा सा।
सर्व प्रसूते पुनरन्तकाले लीन तु तत् सा कुरुते स्वगर्भे ॥२२॥

इसी प्रकार वह शक्ति अनन्त ब्रह्माण्ड और पिण्डमय सृष्टि को भी सदा स्थित रखती है, सबको उत्पन्न करती है और पुनः अन्तकाल में वह उन सभी को अपने गर्भ में लीन कर लेती है ॥२२॥

दृष्ट्वा चमत्कारामिमं न विद्यः कथं भवत्यद्भुतमेतदीश !।
किं कारणञ्चास्य पुनः क आदिरस्य प्रवाहस्य तथाऽस्ति कोऽन्तः
॥२३॥

हे ईश ! इस चमत्कार को देखकर हम नहीं समझ रहे हैं कि यह चमत्कार कैसे हो रहा है, इसका कारण क्या है और इस प्रवाह का आदि क्या है तथा अन्त क्या है ॥२३॥

अनन्त ! सर्वेऽनुभवाम आदरात त्वामीश ! जन्मस्थितिनाशवर्जितम् ।
अनन्तवत्रं बहुधा स्तुतं मुरै गन्धर्वयक्षर्विविधैश्च सूरिभिः ॥२४॥

हे अनन्त ! हे ईश ! हम सब भलीभांति अनुभव करते हैं कि आप उत्पत्ति, स्थिति और विनाश से रहित हो, अनन्तमुख हो और अनेक देवता गन्धर्व यक्ष और विद्वानों के द्वारा अनेक प्रकार से स्तुत हो ॥२४॥

अमितशक्तियुतोऽपि भवन भवा नमितबाहुरसि त्वमनन्तपात् ।
अमितसूर्य मृगाङ्क-शिखिग्रहा-दमितनेत्रघरस्त्वामिहेक्षसे ॥२५॥

आप हमलोगों को यहां अमित शक्ति युक्त होते हुए भी अनन्त बाहु एवं अनन्त पादविशिष्ट और अनन्त सूर्य चन्द्र तथा अग्नि को ग्रहण करनेवाले होनेके कारण अनन्तनेत्रधारी दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥२५॥

त्वं तह्सां तह इहासि चेतने चैतन्यरूऽसि ददासि शक्तये ।
शक्तिं प्रभो ! प्रेरयसे मति तथा त्वत्सत्तया सर्वमिदं हि सत्त्ववत्
॥२६॥

आप तेजों के भी तेज हैं, चेतन में चैतन्यरूप हैं, हे प्रभो ! आप शक्ति को शक्ति देते हैं और बुद्धि को सत्कर्मों में प्रेरित करते हैं क्योंकि आपकी सत्ता से यह समस्त विश्व यहां सत्तावान् हो रहा है ॥२६॥

विभो ! त्वयैकेन हि मध्यलोक अङ्ग तथाऽधश्च दिशां समूहः ।
अनाद्यनन्तः समयस्तथासौ व्याप्तोऽस्ति धीर्येन विमोहिता नः ॥२७॥

हे विभो ! एक आप से ही ऊर्ध्वलोक,अधोलोक, मध्यलोक, अनादि अनन्त यह दिकसमूह और अनादि अनन्त यह काल व्याप्त हैं जिससे हमारी बुद्धि विमुग्ध हो रही है ॥२७॥

गुरो ! जगत्कारण ! ते शरीरा द्वैतरूपात्तव शक्तिराया।
याऽचिन्तनीया प्रकटत्वमेति ब्रह्माण्डमेषा तनुते ह्यनन्तम् ॥२८॥

हे जगत्कारण ! हे गुरो! अद्वैतरूप आपके शरीर से जो आपकी अचिन्तनीया आद्या शक्ति प्रकट होती है वही अनन्त ब्रह्माण्डो का विस्तार करती है ॥२८॥

पूर्व महत्तत्त्ववराभिमानी जातस्ततोऽहतितत्त्वमानी।
देवस्ततो मानसतत्त्वमानी निर्माति चोल्लद्य विचित्रदृश्यम् ॥२९॥

पहले श्रेष्ठ महत्तत्त्वका अभिमानी देवता प्रकट होता है, अनन्तर अहङ्कार तत्त्व का अभिमानी देवता और उसके पश्चात् मानस तत्त्व का अभिमानी देवता प्रकट होकर विचित्र दृश्य की रचना करते हैं ॥२९॥

ततः क्रमेणैव सुरा इमे सदा तन्मात्रतत्त्वस्य किलाभिमानिन: ।

ज्ञानेन्द्रियाणामथ येऽभिमानिनः कर्मेन्द्रियाणामाप येऽभिमानिनः
॥३०॥

य पञ्चभूतैकपराभिमानिन स्त त्वच्छरीरादभिजायमानाः।
नास्तिस्वरूपाजगतोऽस्तिभावं प्रकुर्वते ते गहनप्रभावः ॥३१॥

उसी क्रम से ही पञ्चतन्मात्रा के अभिमानी देवता, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकम्मेन्द्रिय के अभिमानी देवता और पञ्चमहाभूतों के परम अभिमानी देवता यह सभी सदा आपके शरीर से प्रकट होते हुए जगत को नास्ति रूप से आस्ति रूप में कर देते हैं; आपका प्रभाव गहन अर्थात महान है ॥ ३०-३१॥

शक्तिस्तवाचिन्सविभावशालिनी स्वस्यां तनौ सर्वलयं प्रकुर्वती ।
त्वय्येव ने विलयं वितन्वती प्रपातयत्यत्र विचित्रतासु नः ॥३२॥

आपकी अचिन्त्य प्रभावशालिनी शक्ति अपने शरीर में सभी का लय करती हुई अपना विलय आप ही में करती हुई हमको यहां विचित्रता में गिरा रही है अर्थात् हमको आश्चर्यमें डुबा रही है ॥३२॥

कुर्वन्ति सम्भूय जनि स्थिति लयम् ।
ब्रह्माण्डकस्याप्यमितस्य सर्वथा चराचरस्यागतचित्रताजुषः॥३३॥

आपसे ही अनन्त ब्रह्मा विष्णु और महेश प्रकट होकर आश्चर्ययुक्त विचित्रतापूर्ण चराचरमय अनंत ब्रह्मांडों की उत्पत्ति, स्थिति और लय का भी सर्वथा विधान करते हैं ॥३३॥

केचिद्यथा वालगणा रजोगृहं निर्मान्त्यवन्त्यन्य इदं तथाऽपरे ।
विनाशयन्तीति वयं तवाधुना पश्याम इत्थं वपुषि ध्रुवं प्रभो ! ॥३४॥

हे प्रभो ! जैसे कोई बालक धूलिका घर बनाते हैं, कोई उसकी रक्षा करते हैं और अन्य कोई उसको नष्ट कर देते हैं; उसीप्रकार हम निश्चय इस समय आपके शरीर में ब्रह्मांडों की उत्पत्ति, स्थिति और लयके विषयको देख रहे हैं ॥ ३४॥

रुद्राश्च सर्वे वसवश्च निर्जरा आदित्यसंघा मघवा प्रजापतिः।
विश्वेसरा वायुगसंख्यकामरा दैत्या ह्यनन्ताः पितरस्तथर्षयः ॥३५॥

त्वतकायजास्त्वां बहुधा यतन्ते ज्ञातुं परन्ते न हि पारयन्ते।
अतो विमुग्धास्तव मायया ते पुनर्विशन्त्येत्य तवैव काये ॥३६॥

एकादश रूद्र गण, द्वादश आदित्यगण, अष्ट वसुदेवता गण, इन्द्र, प्रजापति, विश्वेदेवा, वायु, ये सब असंख्य देवंगण, अनन्त ऋषि एवं पितृगण और अनन्त असुरगण सभी आपके शरीरसे प्रकट होकर आपको जानने के लिये अनेक प्रकारसे यत्न करते हैं परन्तु वह पार नहीं पाते हैं इसलिये आपकी मायासे विमुग्ध होकर वह फिर भी जाकर आपके ही शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। ॥३५-३६॥

कारणं कारणानां त्वमेवाक्षरं ब्रह्म विज्ञेयमेकं त्वमेवास्यहो।
आश्रयस्थानमेकं निधानं परं विश्वसङ्घस्य जानन्ति ते कोविदाः ॥
३७॥

अहो ! आप ही कारणों के कारण हैं, आप ही अक्षर (अविनाशी) परब्रह्म हैं और एक आप ही जानने के योग्य हैं, एक आप ही विश्वसमूह के आश्रयस्थान और परम रक्षा स्थान हैं, इस बातको प्रसिद्ध पण्डितगण जानते हैं ॥३७॥

त्वमव्यय: शाश्वतधर्म गोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो नः।
प्रभोऽतितेजोमयमादिहीन मनन्तमप्येकमनेकवर्णम् ॥ ३८॥

अचिन्तनीय हवितर्कणीयं किलामिनैरङ्गभरैः सुपूर्णम् ।
पश्यंत आश्चर्यकर प्रदीप्त विराटशरीरं तब विस्मिताः स्मः ॥३९॥

आप विकार रहित हैं, सनातन धर्म के रक्षक हैं और आप सनातन पुरुष है, यह हमारा मत है । हे प्रभो ! आप के अतितेजोमय, आदिहीन, अनन्त होने पर भी एक, अनेकवर्ण, अचिन्त्य, अवितर्कय, अगणित अवयवों से पूर्ण, विस्मयकर और देदीप्यमान विराट् शरीर को देखते हुए हम विस्मित हो रहे हैं ॥३८-३९॥

धृतिन्न विन्दाम इह त्वदीये कायेऽमितॉस्तान्प्रसमीक्ष्य लोकान् ।
प्रसीद देवेश ! जगनिवास ! त्वमेव नः सम्मत आदिदेवः॥ ४० ॥

हे जगन्निवास! हे देवेश ! इस आपके विराट् शरीर में उन अगणित लोको को देखकर हम धृति को लाभ नहीं कर रहे हैं, इसलिये आप प्रसन्न हो, हमारा मत है कि आप ही आदिदेव हैं ॥४०॥

अहो किमाश्चर्यमिदं विभाति क्षुद्रात समारभ्य तृणादसीम्नः ।
ब्रह्माण्ड पर्यंतविशालसृष्टेः सृष्टिस्थितिप्रत्यवहारहेतोः॥४१॥

यथार्भकाः क्रीडनसक्तचित्ता विमोहितास्तन्मयतामुपेताः।
अनेकथाऽनेकविधस्वरूपा स्तथा पृथक् देवगणा नियुक्ताः ॥४२॥

अहो ! यह क्या चमत्कार शोभायमान हो रहा है । एक क्षुद्र तृण से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त जो असीम विशाल सृष्टि है उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय के लिये अनेक प्रकार से अनेक प्रकार के रूपवाले देवतागण ऐसे मोहित और तन्मय होकर पृथक् पृथक् नियुक्त हैं जैसे खेल में आसक्तचित्त बालकगण तन्मय और विमोहित रहते हैं ॥ ४१-४२ ॥

स्थूलात्स्थूलतरं नित्यं ज्ञानलोचनगोचरम् ।
अनाद्यन्तं विरारूपं दृष्ट्वा ते विभुमदभुतम् ॥४३॥

अपिचत् परमानन्दो जातो नश्चेतसि प्रभो ! ।
न तथापि वयं दृष्टुं शक्नुयाम बहुक्षणम् ॥४४॥

ज्ञानदृष्टि से देखने योग्य, स्थूलातिस्थूल, अनादि, अनन्त, नित्य, अद्‌भुत और व्यापक आपके विराट रूप का दर्शन करके हे प्रभो ! यदि हम लोगों के चित्त में परमानन्द की प्राप्ति हुई है परन्तु हमलोग बहुत देर तक इस रूप का दर्शन नहीं कर सकते हैं ॥४३-४४॥

जीवानां मनसो बुद्धचिोऽगोचरमिन्यहो ।
अपूर्व भवतो रूपमालोक्याश्चर्यमङ्कुलम् ॥४५॥

मनो नो मूर्छितं बुद्धिः स्थगिता भवति प्रभो!।
शैथिल्यं यान्ति हे स्वामिनिन्द्रियाण्यखिलानि नः ॥४६॥

अहो! जीवोंके वाणी, मन और बुद्धि से अगोचर इस अपूर्व आप के आश्चर्यमय रूपको देखकर हे स्वामी ! हे प्रभो ! हमारी सभी इन्द्रियां शिथिल. मन मूर्छित और बुद्धि शिथिल होती है ॥४५-४६॥

अतो वयं हि विश्वात्मन् ! विनीतं प्रार्थयामहे ।
त्वद्विभूतिस्वरूपेषु यद्वन्तं वयं विभो ! ॥४७॥

देशे काले च सर्वत्र पात्रे द्रष्टुं यथेशमहे ।
उपदिश्यामहे नाथ ! तथोपायं वयं स्वयम् ॥४८॥

इस कारण हे विश्वात्मन् ! हम लोगों की यह विनीत प्रार्थना है कि हे विभो । हे नाथ ! आप ऐसे उपाय को स्वयं उपदेश दीजिये कि जिसमें हम आपको आपकी विभूतियों के रूप में प्रत्येक देश काल पात्र में दर्शन करने में समर्थ हो सकें ॥ ४७-४८॥

महाविष्णुरुवाच ॥४९॥

महाविष्णु बोले ॥५१॥

आनन्दः सर्वजीवेषु प्रभाऽस्मि शशिमूर्ययोः ।
प्रणवः सर्व्ववेदेषु शब्दः खे चास्मि निर्जरा ॥५०॥

समस्त जीवों में मैं आनन्द हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रभा हूँ, हे देवगण ! मैं सब वेदों में प्रणव और आकाश में शब्द हूँ॥५०॥

वायो स्पर्शोऽस्मि भो देवाः ! रूपं हुतवहे तथा ।
अप्सु चाहं रसो नूनं सत्यमेतन्न संशयः॥५१॥

हे देवगण ! मैं वायु में स्पर्श, अग्नि में रूप और जल में रस हूँ, यह सत्य ही है इसमें सन्देह नहीं ॥५१॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चाऽस्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चाऽस्मि तपस्विषु ॥५२॥

पृथिवी में पवित्र गन्ध, अग्नि में तेज, सब भूतों में जीवन और तपस्वियों में तपोरूप हूँ ॥५२॥

वर्णेषु ब्राह्मणो वर्ण आश्रमेष्वन्तिमाश्रमः ।
सतीत्वमार्य्यनारीषु तथास्मि पौरुषं नृषु ॥५३॥

वर्णों में ब्राह्मण वर्ण, आश्रमों में अन्तिम आश्रम अर्थात् सन्यास आश्रम, आर्य नारियों में सतीत्व और पुरुषों में पौरुष अर्थात् पुरुषार्थ हूँ ॥५३॥

यावद्देवगणाः सर्वे सात्त्विक्यो मे विभूतयः ।
यावन्तस्तेऽसुराश्चैव तामस्यो मे विभूतयः ॥५४॥

जितने देवता हैं वे मेरी सात्त्विक विभूतियां हैं और जितने ही असुर हैं वे मेरी तामसिक विभूतियां हैं ॥५४॥

बीजं मां सर्वभूतानां वित्त देवाः ! सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥५५॥

हे देवगण ! सब भूतों का सनातन बीज मुझको जानों मैं बुद्धिमानों में बुद्धि और तेजस्वियों में तेज हूँ ॥५५॥

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि विवुधर्षभाः ! ॥५६॥

हे देवश्रेष्ठो ! बलवानों में मैं काम और राग से रहित बल हूँ और भूतों में धर्माविरुद्ध अर्थात् धर्म के अनुकूल काम हूँ ॥५६॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥५७॥

मैं क्रतु (श्रौत अग्निष्टोमादि यज्ञ) हूँ, मैं यज्ञ (पञ्चमहायज्ञादि) हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं औषध हूँ, मैं मन्त्र हूँ, मैं आज्य (घृत) हूँ, मैं अग्नि हूँ और मैं बाहुति हूँ॥५७॥

पिताऽहास्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक साम यजुरेव च ॥५८॥

इस विश्वका मैं पिता, माता, धाता (धारण और पोषण करने वाला) और पितामह हूँ। मैं ही जानने के योग्य हूँ, पवित्र ओंकार मैं ही हूँ तथा ऋक् यजुः और साम मैं ही हूँ ॥५८॥

ज्योतिषामंशुमान् सूर्यो वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
मरीचिर्मरुतामास्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥५९॥

ज्योतियों में मैं किरणमाली सूर्य हूँ, यक्ष रक्षोगण में वित्तेश (कुबेर) हूँ, मरुतों में मरीचि हूँ और नक्षत्रों में मैं शशी (चन्द्रमा) हूँ ॥५९॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चाऽस्मि भूतानामम्मि चेतना ॥६०॥

वेदों में सामवेद हूँ, देवताओं में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और प्राणियों में चेतना हूँ ॥६०॥

आदित्यानामहं विष्णुः वसूनामस्मि पावकः ।
रूद्राणां शङ्करश्चाऽस्मि मेहः शिखरिणामहम् ॥६१॥

द्वादश आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, अष्ट वसुओं में पावक हूँ, एकादश रुद्रों में शङ्कर हूँ और पर्वतों में मैं मेरु हूँ ॥६१॥

पुरोधसाच मुख्यं मां वित्त देवाः ! वृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥६२॥

हे देवगण ! मुझको पुरोहितों में श्रेष्ठ पुरोहित बृहस्पति जानो, सेनानायकों में मैं स्कन्द (कार्तिकेय) हूँ और जलाशयों में मैं सागर हूँ॥६२॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥६३॥

महर्षियों में मैं भृगु और वाणियों में मैं एक अक्षर अर्थात् ॐकार हूँ, यज्ञों में जपयज्ञ हूँ और स्थावरों में हिमालय हूँ ॥६३॥

अश्वत्थः सर्वक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥६४॥

समस्त वृक्षों में अश्वत्थ अर्थात् पीपल का वृक्ष हूँ, देवर्षियों में नारद हूँ, गन्धवों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ ॥६४॥

उच्चैःश्रवसमवानां वित्त माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम् ॥६५॥

अश्वों में मुझको अमृत अर्थात् अमृत जिससे उत्पन्न हुआ है ऐसे समुद्र से उत्पन्न उच्चैःश्रवा जानो, गजेन्द्रों में ऐरावत और मनुष्यों में नराधिप अर्थात् प्रजाओं को प्रसन्न रखनेवाला नृप जानो ॥६५॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥६६॥

मैं वैश्वानरनामक अग्नि होकर प्राणियों के देह को आश्रय करके प्राण और अपान वायुयों से युक्त होता हुआ चतुर्विध (लेह्य, चूष्य, पेय आदि) अन्नों को पचाता हूँ ॥६६॥

यदादित्य गतं तेजो जगाद्भास्तेऽखिलम ।
यचन्द्रमसि यचाऽग्नौ तत्तेजो वित्त मामकम् ॥६७॥

जो सूर्यान तेज सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्र और अग्निमें है, उस तेज को मेरा तेज समझो ॥६७ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुषणामि चौषधी: सर्वा: सोमो भूत्वा रसात्मक: ॥६८॥

मैं पृथ्वीमें प्रवेश करके (अपने) बल से भूतो को धारण करता हूँ और रसात्मक सोम होकर सब ओषधियों को पुष्ट करता हूँ ॥६८॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चाऽस्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥६९॥

मैं आयुधों में धज्र और धेनुओं में कामधेनु हूँ, प्रजाओं की उत्पत्ति का हेतु काम हूँ और सर्पों में वासुकि हूँ ॥६९॥

अनन्नश्चाऽस्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
प्रहलादश्चाऽस्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ॥७०॥

नागों में अनन्त हूँ, जलचरों में मैं (उनका अधिपति) वरुण हूँ, दैत्यों में प्रहलाद हूँ और वशीभूत करनेवालों में मैं काल हूँ ॥ ७०॥

मृगाणाश्च मंगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।
पवनः पवनामस्मि दानेप्वभयदानकम् ॥७१॥

पशुओं में मैं मृगेन्द्र हूँ , पक्षियों में गरुड़, वेगशालियों में पवन और दानों में अभयदान हूँ ॥७१॥

झषाणां मकरश्चाऽस्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।
पितृणामळमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥७२॥

मत्स्यों में मकर, नदियों में गंगाजी, पितरों में अयर्मा और शासकों में यम हूँ॥ ७२ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहमुत्तमाः ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥७३॥

हे श्रेष्ठ देवगण ! सृष्टि का आदि, अन्त और मध्य में ही हूँ , विद्याओं में अध्यात्मविद्या और वादियोंमें वाद हूँ ॥७३॥

अक्षराणामकारोऽस्मि इन्द्रः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥७४॥

अक्षरों में अकार हूँ, समासों में द्वन्द्र समास हूँ, मैं ही अविनाशी काल हूँ और विश्वतोमुख धाता अर्थात् सर्वकर्मफलप्रदाता हूँ ॥७४॥

मृत्युः सर्वहरश्चाऽहमुवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥७५॥

मैं सर्वहारी मृत्यु हूँ, उत्पन्न होने वालो का उत्पत्तिस्थान हूँ और नारियों में कीर्ति, श्री और वाक् मैं हूँ एवं स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमारूप हूँ ॥७५॥

वृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥७६॥

मैं सामवेद की शाखाओं में वृहत्साम, छन्दों में गायत्री छन्द, मासों में मार्गशीर्ष मास और ऋतुओं में वसंत ऋतु हूँ ॥७६॥

द्यूतं छलयतामस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥७७॥

छलियों मे द्युत (जुआ) हूँ, पराक्रमियों मे सत्व अर्थात् पराक्रम हूँ, मुनियों में मैं व्यास हूँ और कवियों में मैं उशना कवि अर्थात् शुक्र हूँ॥७७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरास्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवाऽस्मि गुयानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥७८॥

दमनकारियों में मैं दण्ड हूँ, जय की इच्छा करनेवालों में नीति हूँ, गुह्यों में मौन हूँ और मैं ज्ञानियों का ज्ञान हूँ ॥७८॥

यच्चाऽपि सर्वभूतानां बीजं तदहमस्मि वै।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥७९॥

समस्त प्राणियों का जो बीज है वह मैं ही हूँ, ऐसा चराचर भूत कोई नहीं है जो मेरे बिना हो अर्थात् मैं सर्वत्र व्यापक हूँ ॥७९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां सुरर्षभाः।
एष तूदेशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥८०॥

हे देवश्रेष्ठो! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, यह बिभूतिविस्तार तो मैंने संक्षेपसे कहा है ॥ ८० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमर्जितमेव वा ।
नत्तदेव तु जानीत मम तेजोऽशसम्भवम् ॥८१॥

जो जो विभूति युक्त, श्रीमान् अथवा समुन्नत सत्त्व (प्राणी) है उस उस को ही मेरे तेज के अंश से उत्पन्न जानो॥८१॥

अथवा बहुनतेन किं ज्ञातेन हि वोऽमराः ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥८२॥

अथवा हे अमरगण ! आपलोगो को इसके बहुत जानने से क्या, मैं एक अंश से इस सम्पूर्ण जगत को धारण करता हूँ ॥८२॥

अहमात्मा सुपर्वाणः ! सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ॥८३॥

हे देवगण ! मैं सब प्राणियों के अन्तः करण में स्थित आत्मा हूँ और मैं ही प्राणियों का आदि, अन्त तथा मध्य भी हूँ ॥८३॥

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥८४॥

गति, भर्ता (पालक), प्रभु (नियन्ता), साक्षी (द्रष्टा), निवास (भोग स्थान), शरण (रक्षक), सुहृत् (हितकर्ता), प्रभव (स्रष्टा), प्रलय(संहर्ता), स्थान (आधार), और निधान (लयस्थान), तथा अविकारी बीजरूप हूँ ॥८४॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।
वेदैश्च सर्बेरहमेव वेद्यो वेदान्तकृवेदविदेव चाहम् ॥८५॥

मैं सबके हृदयमें सन्निविष्ट हूँ, मुझसे स्मृति, ज्ञान और इन दोनों का विलय होता है, सभी वेदों से जानने योग्य मै ही हूँ, वेदान्तकृत् अर्थात् ज्ञान देनेवाला गुरु और वेदो को जाननेवाला मैं ही हूँ ॥८५॥

मनोयोगेन मां देवाः ! मद्विभूतिषु पश्यत ।
धीयोगेन निरीक्षध्वं विरारूपेऽथवा बुधाः ! ॥८६॥

ममैवात्मस्वरूपं हि समाधिद्वारतोऽथवा ।
ब्रह्मानन्दप्रपूर्ण तल्लभध्वं सुरसत्तमाः ! ॥८७॥

हे विज्ञ देवतागण ! मनोयोग से मेरी विभूतियों में मेरा दर्शन करो तथा बुद्धि योगसे विराट रूप में मेरा दर्शन करो अथवा हे सुरश्रेष्ठो ! समाधि के द्वारा मेरे ब्रह्मानन्दपूर्ण आत्मस्वरूप को प्राप्त हो । ॥८६-८७॥

येन केन च योगेन पश्यद्वयो मां निरन्तरम् ।
दातुं वः परमां शान्तिं सर्वथैवोद्यतोऽस्म्यहम् ॥८८॥

जिस किसी प्रकार से निरन्तर मेरा दर्शन करने वाले तुम लोगों को मैं सर्वथा ही परम शान्ति देने को प्रस्तुत हूँ ॥८८ ॥

सर्वधान परित्यज्य शरणं यात मां ध्रुवम् ।
अहं वः सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि नो भयम् ॥८९॥

सब धर्मों को छोड़कर निश्चय एकमात्र मेरी शरणागत हो जाओ कुछ भय नहीं है, मैं आपलोगों को सब पापोंसे मुक्त कर दूंगा ॥८९॥

अहं हि सर्वभूतानां तिष्ठामि हृदयेऽमराः ।

भ्रामयन सर्वभूतानि यन्त्रारूदानि मायया ॥९०॥

हे देवगण ! मैं ही यन्त्रारूढ़ सब प्राणियों को माया से नचाता हुआ उनके हृदय में स्थित रहता हूँ॥९०॥

मामेव शरणं यात सर्वभावेन निर्जराः ।
मत्प्रसादात्परां शान्ति स्थान प्राप्स्यथ शाश्वतम् ॥९१॥

हे देवगण ! आपलोग सब भावोंसे मेरीही शरणको प्राप्त हो, मेरी कृपासे परम शान्तिको और सनातन स्थानको प्राप्त करोगे ॥९१॥

दवा ऊचुः ॥ १२॥

देवतागण बोले ॥९२॥

देवादिदेव : सर्वात्मन् ! महाविष्णो ! दयानिधे !!
जगनिवास ! ते स्वामिन्नपारकृपयाऽधुना ॥९३॥

मोहतापविनिर्मुक्ताः सन्तश्च निर्भया वयम् ।
वीतसन्देहसन्दोहाः कृतकृत्या अभूम ह ॥९४॥

हे देवादिदेव ! हे जगनिवास ! हे सर्वात्मन् ! हे महाविष्णो! हे दयानिधे हे स्वामिन् ! अब आपकी अपार कृपासे हमलोग मोह रहित तापरहित और भयरहित तथा सर्वसंशयरहित होकर कृतकृत्य हुए हैं। ॥९३-९४ ॥

सर्वे हि साम्प्रतं विश्वं भाति नः स्वकुटुम्बवत् ।
राक्षसासुरमाश्च सन्त्यात्मीया हि नोऽधुना ॥९५॥

अब समस्त विश्व ही कुटुम्बवत् हम लोगों को प्रतीत होता है, इस समय असुर राक्षस और मनुष्य हमारे आत्मीय हैं ॥९५॥

साम्यबुद्धौ प्रजातायामेवं नाथ ! प्रतीयते ।
अत एवमिवधेदानीमिच्छा नो जायते स्वतः ॥९६॥

यज्ज्ञानमुपदिष्टं नस्त्वयापारदयावशात् ।
तस्य सर्वेषु लोकेषु प्रचारोऽस्तु निरन्तरम् ॥९७॥

हे नाथ ! साम्यबुद्धि उत्पन्न होने से हमलोगों को ऐसा प्रतीत होने लगा है इस कारण ही अब हम लोगों की स्वतः ऐसी इच्छा हो रही है कि आपने अपार कृपावश जो हम लोगों को ज्ञानोउपदेश देय है उसका निरंतर प्रचार सब लोकों में हो जाए॥ ९६-९७ ॥

कर्मभूमौ भवेन्नूनं मर्त्यलोके विशेषतः ।
प्रचारः सर्वथा नाथ ! ज्ञानस्यास्य दयाम्बुधे ! ॥९८॥

यतो मनुष्यलोको नः सम्वृद्धेर्मुख्यकारणम् ।
इदानीं करुणासिंधो ! बुर्द्धिन समता गता ॥९९॥

हे नाथ ! हे दयाम्बुधे! विशेषतः कर्मभूमि मनुष्यलोक में इस ज्ञान का प्रचार सब प्रकार से अवश्य होना चाहिए क्योंकि मनुष्यलोक हीं हमलोगों के संवर्द्धन का प्रधान कारण है। हे करुणा सिन्धो ! अब हमलोगोंकी बुद्धि समतामें पहुंच गई है ॥९८-९९॥

इच्छामो हि वयश्चानो भतसङ्गं चतुर्विधम् ।

आरभ्य निखिला जीवा देवतासुरमानवाः ॥१००॥

वर्तन्तेऽन्ये च ये जीवास्ते सर्वे ने समानतः ।
लब्ध्वाऽसीमदयाराशि कृतकृत्या भवन्त्वलम् ॥ १०१ ॥

इस कारण हम इच्छा करते हैं कि चतुर्विध भूतसंघ से लेकर मनुष्य, देवता और असुर तथा अन्यान्य जो जीव है वे सब आपको अपार कृपापुंज को समान रूप से प्राप्त करके सम्यक् कृतकृत्य हो जाएँ। ॥१००-१०१॥

ज्ञानमस्याश्च गीतायाः प्राप्य मोदं वहन्तु ते ।
एषैव प्रार्थनाऽसमाकमेतदेवाभिवंछितम ॥१०२॥

और वे इस गीताका ज्ञान पाकर आनन्दित होकर, यही हम लोगोंकी प्रार्थना और यही अभिलाषा है॥१०२॥

महाविष्णुरुवाच ॥१०३॥

महाविष्णु बोले ॥१०३॥

नथाऽस्तु भवतां देवाः ! यथाभिलषितं वरम् ।
प्रार्थितं सर्वलोकानां यतो मंगलहेतवे ॥१०४॥

हे देवगण ! आपका अभिलषित वर जैसा है वैसा हो क्योंकि आपने सभी लोकों के मंगलार्थ प्रार्थना की है ॥१०४॥

मत्परायणया धृत्या सात्विक्या भवतां सुराः ।

ज्ञानगर्भिता चैव सात्विकक्या धर्म्युक्त्या ॥१०५॥

सर्वलोकहितैषिण्या विनीतोदारया तथा।
प्रार्थनया प्रसन्नोऽस्मि तथेत्यस्तु पुन वे ॥१०६॥

हे देवगण ! आप लोगो की मत्परायण सात्त्विक वृत्ति से और सात्त्विकी, ज्ञानसम्पन्ना, धर्म युक्ता, सर्वलोकहितकरी, विनीत और उदार प्रार्थना से मैं प्रसन्न हुआ हूँ। मैं पुनः कहता हूँ कि ऐसाही हो॥१०५-१०६॥

गीतेयं विष्णुगीतेति नाम्ना ग्याता भविष्यति ।
मर्त्यलोके पुनश्चास्याः कृष्णरूपेण वै सुराः ॥ १०७॥

द्वापरान्तेऽवतीाह गीताया ज्ञानमुत्तमम् ।
प्रचार्य पूरयिष्यामि भवनां शुभकामनाः ॥ १०८॥

हे देवगण ! यह गीता विष्णुगीता नाम से प्रख्यात होगी और इस गीता के उत्तम ज्ञान को मैं पुनः द्वापर के अन्त में मनुष्यलोक में कृष्ण रूप से अवतीर्ण होकर प्रचारित करके आपकी शुभ कामनाओं को पूर्ण करूंगा ॥१०७-१०८॥

सर्वोपनिषदां सारो वेदनिष्कर्ष एव च ।
योगयुन्ज्यांनचित्तानां गीतेयं ज्ञानवर्तिका ॥१०९॥

यह गीता सब वेदों का निष्कर्ष, उपनिषदों का सार और योगाभ्यास निरत व्यक्तियों के लिये ज्ञानप्रदीप है ॥१०६ ॥

त्रितापतापितानाच मीवानां परमामृतम् ।
संसारापारपाथोधौ मन्जतां तरणिः परा ॥ ११०॥

त्रितापतापित जीवों के लिये यह परम अमृतरूपा है। संसार महासागर में डूबनेवालों के लिये उत्तम नौका है ॥११०॥

क्षिप्रमाध्यात्मिकस्तापो पठानात्पाठनद्पि ।
नश्यत्यस्या न सन्देहस्तथैतवारतोऽमराः ॥ १११ ॥

विश्वम्भराख्ययागस्य विधानेनाधिदैविकः ।
आधिभौतिकतापश्च पाठादस्याः प्रणश्यति ॥११२॥

इसके अध्ययन अध्यापन द्वारा अवश्य आध्यात्मिक ताप शीघ्र नष्ट होता है और इसके द्वारा हे देवगण ! विश्वम्भरयाग करनेसे आधिदैविक ताप और इसके पाठ करने और कराने से आधिभौतिक ताप नष्ट होता है ॥१११-११२॥

अस्याश्च विष्णुगीताया माहात्म्यं महदद्भुतम् ।
गीतेयञ्च मुमुक्षूणामान्मज्ञानमभीप्सताम् ॥११३ ॥

मन्यस्तानां विरक्तानां गुरुरूपा च मुक्तिदा।
गीतेयं ब्रह्मचारिभ्यो गृहस्थेभ्यस्तथैव च ॥११४॥

धर्मार्थकामरूपो यस्त्रिवर्गस्तं हि यच्छति ।
गीतामेताच यः प्राणी स्वाध्यायविधिना पठेत् ॥११५॥

विदध्याद्विष्णुयज्ञम्बा चैतया विष्णुगीतया ।

मर्वव्याधिविनिर्मुक्तः स सुरवी सत्त्वरं भवेत् ॥११६॥

इस विष्णुगीताका माहात्म्य महान् अद्‌भुत है, यह गीता संसारसे वैराग्यवान आत्मज्ञानेच्छु मुमुक्षु सन्यासियों के लिये गुरुरूप और मुक्तिप्रद है, ब्रह्मचारी और गृहस्थों के लिये यह गीता धर्म अर्थ और कामरूपी त्रिवर्ग प्रदान करनेवाली है, जो प्राणी इसका पाठ स्वाध्यायविधि से करे और इसकेद्वारा विष्णुयज्ञ का अनुष्ठान करे तो वह सब प्रकार की व्याधियों से मुक्त होकर शीघ्र सुखी होता है॥११३-११६॥

यश्चाक्षरमयीमेनां विष्णुगीतां प्रयच्छति ।
मत्पात्रेभ्यः कुलीनेभ्यो विद्वदन्या हि यथाविधि ॥११७॥

स्वर्गप्राप्तिस्सदा तस्य स्वहस्तामलकायते ।
एषा यस्य गृहे तिष्ठेद्विष्णुगीता सुरप्रभाः ! ॥११८॥

आसुरी भौतिकी तस्य कापि बाधा न जायते ।
यत्रासौ भक्तिभावेन भवने रक्षिता भंवत् ॥११९॥

नित्यमायतनं तद्धि लक्ष्मीनैव विमुञ्चति ।
जानीत निश्चयं देवाः ! सत्यं मन्यं वदाम्यहम् ॥१२०॥

जो अक्षरमयी (पुस्तकरूप) इस विष्णुगीताको सत्पात्र कुलीन तथा विद्वानो को यथाविधि दान करता है उसके लिये स्वर्ग प्राप्ति सदा स्वाधीन है, हे देवश्रेष्ठो! यह विष्णुगीता जिसके घर में रहती है कोई भी आसुरी और भौतिकी बाधा उसको नहीं होती है , जिस घरमें यह विष्णुगीता भक्तिभावले सदा सुरक्षित रहती है उस घरको लक्ष्मी

कभी नहीं छोड़ती है, हे देवगण! यह तुम निश्चय जानो, मैं यह सत्य सत्य कहता हूँ ॥११७-१२०॥

आस्तिको गुरुभक्तश्च देवश्रद्धापरायणः ।
शास्त्रेषु दृढ़विश्वासः पवित्रात्मा महामनाः॥१२१॥

न धर्मसम्प्रदायांश्च योऽन्यान द्वेष्टि कदाचन ।
महोदारः स एवात्र लब्धं केवलमर्हति ॥१२२॥

विष्णोरुपनिषन्मय्यां गीतायामधिकारिताम् ।
ध्रुवमस्याः तापचारेण लोके शान्तिर्भविष्यति ॥१२३॥

जो आस्तिक गुरुभक्त और देवताओ में श्रद्धालु हैं, जिसका शास्त्रों में दृढ़ विश्वास है, जो पवित्रात्मा महामना है और जो अन्य धर्म सम्प्रदायों से कभी द्वेष नहीं करता है एवं जो परमोदार है केवल वही इस उपनिषन्मयी विष्णुगीता का अधिकारी हो सकता है। इस विष्णुगीता के प्रचारसे संसार में अवश्य शान्ति होगी॥१२१-१२३॥

इति श्रीविष्णुगीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रं देवमहाविष्णुसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगवर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योग शास्त्र में देव महाविष्णु सम्वादात्मक विश्वरूपदर्शनयोगवर्णन नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ।

॥ इति श्री विष्णु गीता समाप्तः ॥
॥श्री विष्णु गीता समाप्त हुई ॥